योग सिद्धान्तों और क्रियाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योग योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष : 29 अगस्त 1996 अंक : 5

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई, आगरा

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
श्री चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
श्री गोविन्द सोनी
ब्र० राजेश चन्द्र शर्मा

अगस्त १९९६

इस अंक में पढ़िए

- गुरूणां गुरवे नमः १
- संयम एवम् गुरुदेव (विशेष लेख) २
  —योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- बुद्धियोग (सम्पादकीय) ६
- गुरु-पूर्णिमा का पावन पर्व ८
  —श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
- समर्पण का अर्थ एवं स्वरूप ११
  —श्रीमति कविता शर्मा
- कर्मफल की व्यवस्था सृष्टि की स्थिरता का सुनिश्चित आधार १५
  —श्री राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)
- सन्तोषात् परमं सुखम् ! १७
  —श्री नारायण दत्त शास्त्री
- मन-इन्द्रियों को वश में करके परमात्मा को प्राप्त करें —श्री जयदयाल गोयन्दका २०
- जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि २२
  —डा० जे० पी० अवस्थी
- उपासनीय भगवत्तत्व ३४
  —श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार
- श्री सिद्धगुफा (कविता) ३८
  —श्री 'दिव्य'
- धन्य कौन ? [देवर्षि नारद के कौतूहल का रहस्य] ३९
- मनःशुद्धि का साधन—ध्यान ४१
  —श्री सोहनलाल एन० डी०

वार्षिक मूल्य ६० रु० । द्विवार्षिक मूल्य ११० रु० ।
इस अङ्क का मूल्य ६ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २९	ध्यायं ध्यायं यमिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्, गत्वों मुक्तोमुं च विरक्तो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तस्मात्प्रार्थीम् बहुविधदं योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग'॥	अगस्त
अङ्क ५		१९९६

गुरूणां गुरुवे नमः

जगद्गुरो नमस्तुभ्यं शिवाय शिवदाय च।
योगीन्द्राणाञ्च योगीन्द्र गुरूणां गुरवे नमः॥

अर्थात्

हे समस्त चराचर जगत् के गुरु (पूज्य)! हे मङ्गलमय! हे सबको मोक्ष रूप कल्याण के देने हारे! हे परम उत्कृष्ट योगियों के परम शिरोमणि योगी! हे गुरुओं के गुरु! आपको मैं बारम्बार विनय पूर्वक भक्ति, प्रेम और श्रद्धा से अभिवादन करता हूँ।

—स्वामी लक्ष्मणानन्द

विशेष लेख :—

★ संयम एवम् गुरुदेव ★

श्री योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने पिछले कई लेखों में यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि संयम के आधार पर मनुष्य सब प्रकार की शक्तियों को प्राप्त कर सकता है। योगदर्शन का विभूति पाद बतलाता है कि मनुष्य देहाकाश के सम्बन्ध में संयम करे तो उसका शरीर रुई की भाँति हल्का हो जाता है और उसको आकाश गमन करने की योग्यता प्राप्त होती है। यदि कोई योगी श्रोत्र अर्थात् कर्ण संकुलि और आकाश के सम्बन्ध में संयम करता है तो उसको दिव्य श्रोत्र प्राप्त हो जाते हैं। और वह एक स्थान पर बैठा हुआ ही लोक-परलोक की वाणियां सुनने लगता है एवम् दिव्य-ज्ञान को अनुभव करता है। हमने अपने पिछले लेखों में कई स्थानों पर यह संकेत किया है कि हमारी योग विद्या-सर्व फलों की दात्री है और उसकी प्राप्ति के दो महत्वपूर्ण साधन हैं, वे हैं—

मनुष्य का अपना अभ्यास और वैराग्य। इसके अतिरिक्त एक और महान साधन है सिद्धयोग परम्परा अथवा गुरु कृपा की। इसका विस्तृत वर्णन हमने अपने पिछले अङ्क के लेखों में भलीभांति कर दिया है। हरेक साधना की पूर्णता साधनयोग और सिद्धयोग दोनों ही प्रकार से प्राप्त की जा सकती है किन्तु साधक का अभ्यासी होना, अनवरत अपने नियमों का पालन करना और श्रद्धापूर्वक पालन करना बहुत आवश्यक है। यही बात संयम के विषय में भी है। वहाँ पर "त्रयमेकत्र संयमः" सूत्र की व्याख्या की थी और यह बतलाया गया था कि संयम के परिणाम में समाधि प्रज्ञा का आलोक होता है अर्थात् समाधि प्रज्ञा पूर्णरूपेण निर्मल हो जाया करती है। इस प्रकार की स्थिति आ जाने पर संयम की साधना करने वाले योगी को संयम का योग भूमिकाओं में उपयोग करना चाहिये। योग-दर्शन में विभूतिपाद में भगवान पतञ्जलि देव ने स्वयं आज्ञा दी है कि—

तस्य भूमिषु विनियोगः

अर्थात् संयम के बल से समाधि प्रज्ञा के निर्मल हो जाने पर उस संयम का भिन्न-भिन्न भूमियों में विनियोग करना चाहिये जिससे संयम की ताकत उत्तरोत्तर बढ़ती चली जावे और परिणाम योगी के सामने आता रहे। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव ने वचन लिखे हैं। इसका सार यह है कि संयम के बल से जिस भूमिका को जीत लिया हो उससे आगे की भूमिका में संयम करना उपयुक्त है। जिस प्रकार पहली श्रेणी के विद्यार्थी को दूसरी श्रेणी का ही कोर्स पढ़ना चाहिए, अपने लक्ष्य को पूर्ण किये बिना आगे कदम बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार मन्दगति

वाला विद्यार्थी बीच की श्रेणियों को छोड़कर प्राइवेट तौर पर परीक्षा की तैयारी करके ऊंची कक्षाओं को उत्तीर्ण करने का प्रयत्न करता है और उसमें वह बार-बार असफल हुआ करता है। इसी प्रकार निम्न श्रेणी की भूमिकाओं में यदि योगी ने संयम के द्वारा स्थिति प्राप्त नहीं की तो उत्तर भूमिकाओं में संयम करना उपयुक्त नहीं, यदि वह ऐसा करेगा तो उसका संयम स्थिर पद को प्राप्त नहीं कर सकता। वह योगी बीच की भूमिकाओं को छोड़कर उत्तर भूमिकाओं में संयम की चाहना करता रहेगा और अधः भूमियां दुर्बल रह जायेंगी, तो परिणाम कुछ भी नहीं रहेगा। 'बालस्चन्द्रमसं यथा' की कहावत चरितार्थ हो जायेगी। जिस प्रकार बच्चा चन्द्रमा की ओर हाथ फैलाकर चन्द्रमा को नहीं पकड़ सकता इसी प्रकार जिस योगी ने अधः भूमियों में संयम को प्राप्त नहीं किया है वह उत्तर भूमियों में भी स्थिति लाभ नहीं कर सकता। इसलिये साधक को क्रमशः अपने अभ्युत्थान का प्रयत्न करना चाहिए। जैसा कि पतञ्जलि देव जी ने निर्देश किया है—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़ भूमिः।

अर्थात्, अभ्यास परिपक्व तभी हो पाता है जब लम्बे समय तक, लगातार और आदरपूर्वक किया जाये। इसके अतिरिक्त जो जल्दी परिणाम को चाहने वाले हैं वे लोग प्रायः निष्फल ही बने रहते हैं। एक बात और विशेष उल्लेखनीय है जिसके कारण हमने यह लेख शुरू किया है। भगवान पतञ्जलि देव ने अपने शास्त्र में यह स्पष्ट लिखा है कि जिस योगी ने ईश्वरानुग्रह से उत्तर भूमियों में जय प्राप्त करली है उसको अधः भूमियों में संयम करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि अधः भूमियों में जो सिद्धियां होनी थीं वह उत्तर भूमियों के जीत लेने पर स्वाभाविक ही योगी को प्राप्त हो जायेंगी। इसलिये अभ्यासी योगी के लिये अब यहां संयम करना है इसके बाद कहां संयम करना है इसका ज्ञान प्राप्त कराने के लिये उसका योग ही गुरु बन जाता है जैसा कि कहा है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो, योगो योगात्प्रवर्तते,
योऽप्रमत्तस्तु योगेन, स योगे रमतेचिरम्।

अर्थात्, योग से योग को जानना चाहिये। योग से ही योग प्रवृत्त होता है। जो प्रमाद छोड़कर योगाभ्यास करता है वह लम्बे समय तक समाधि के आनन्द में लीन हो जाया करता है। इसलिये इस मार्ग में जिस पुण्यात्मा साधक को परमगुरु ईश्वर की सहायता प्राप्त है उसका अनायास ही संयम सिद्ध अवश्य हो जाया करता है।

गुरुदेव का तीन प्रकार का मार्ग दर्शन

सिद्धयोग के कई अङ्कों में हमने गुरुदेव के स्वरूप को भली प्रकार से खोलकर समझाने का प्रयत्न किया है—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" जहाँ पर अवच्छेदनार्थ काल नहीं पहुँचता वही सत्ता गुरुओं का भी गुरु है। इसलिये वह सर्वशक्तिमान गुरुदेव अपने विनीत शिष्यों के उत्थान के लिये अनेक प्रकार से कृपा करते हैं, जिससे उनका कोई शिष्य दुःख द्वन्द्व में पड़ा न रह सके एवम् परम श्रेय का भागी बन सके।

गुरुदेव का प्रथम शक्ति प्रक्षेप

गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए हमारे पूर्वाचार्यों ने बतलाया है। 'गृह्णाति शब्दादीनुपदिशति स गुरुः' अर्थात् जो आप्त पुरुष शब्दों द्वारा उपदेश करते हैं और उस उपदेश के द्वारा अपने शिष्यों को मार्गदर्शन करा करके परम श्रेय की ओर ले आने के लिये प्रयत्नशील हैं वह अधिकारी लोगों के लिये उनका प्रथम शिक्षण है। शक्तिवान गुरुदेव की वाणी पतन रहित हुआ करती है। आप्तोपदेश कभी भी व्यर्थ नहीं होता। योगदर्शन में जहाँ आगम प्रमाण का वर्णन किया गया है वहाँ पर कहा गया है कि आप्त पुरुष के द्वारा देखा व सुना हुआ अर्थ दूसरे के मन में अपना बोध कराने के लिए शब्दोपदेश द्वारा दिया जाता है। वह सुनने वाले साधक के लिये आगम प्रमाण है। जिन शब्दों का उपदेश करने वाला वक्ता आप्त पुरुष नहीं है उनकी वाणी मिथ्या हो सकती है। किन्तु जिन्होंने यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया है और शुद्ध मन से अपने शिष्यों को ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं तो यह गुरुदेव की प्रथम शक्ति है जिसके द्वारा अधिकारी शिष्य तत्काल शिक्षा पाते ही अपने विषय के पारदर्शी बन जाते हैं।

गुरुदेव का द्वितीय शक्ति प्रक्षेप

उसके बाद गुरुदेव का दूसरा उपदेश अस्मितानुगत समाधि में स्थिति प्राप्त करने वाले योगी में चित्त निर्माण करने की योग्यता आ जाती है। योगदर्शन हमें बतलाता है—"निर्माण चित्तान्यस्मितामात्रात्" अर्थात् अस्मिता मात्र करण को लेकर योगी अपने चित्तों का निर्माण किया करता है। वह सब चित्त एक प्रधान चित्त के आधीन रहा करते हैं और इस प्रकार के अनेक निर्माणित चित्तों के द्वारा योगी अपने शिष्यों के सामने सूक्ष्मरूप प्रगट होकर अनेक प्रकार की विद्या का उपदेश दिया करते हैं। उनको हिताहित का ज्ञान कराया करते है। जैसे प्राचीन समय में भगवान कपिल देव ने—निर्माण चित्त द्वारा जिज्ञासु आसुरि नामक शिष्य को सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया था। इसी प्रकार से योगी गुरु अपने निर्माण चित्तों के द्वारा जिज्ञासु विनयी शिष्यों को हितोपदेश किया करते हैं और उनके अज्ञान अन्धकार को दूर कर दिया करते हैं। मेरे सद्गुरुदेव आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज अपने बालकों को आने वाले कष्ट से सावधान करते रहते हैं तथा सूक्ष्म शरीर से अपने शिष्यों के सामने आकर उपदेश दिया करते हैं तथा कष्टों से छुटकारा दिलाते रहते हैं।

गुरुदेव का तृतीय शक्ति प्रक्षेप

तीसरी श्रेणी उन परम पुण्यात्मा साधकों की है जिनके अन्तःकरण में श्री गुरुदेव का पवित्र तेज बराबर हर समय प्रकाशित रहा करता है और उनकी स्वतः ही अनेक ज्ञान धारायें विकसित होती रहा करती हैं। ऐसे साधक उन परम गुरु के अनुग्रह को प्राप्त करके जितेन्द्र भूमि हो जाया करते है। उन लोगों को निम्न श्रेणियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। उनका मन चटपट ही ऊँची स्थितियों में भ्रमण करने लगता है फिर उनको नीचे की भूमियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। उनके गुरुदेव उनको कोई शाब्दिक उपदेश नहीं करते किन्तु गुरुदेव के परम अनुग्रह से उनके अपने हृदय

में ही सत्यबोध होने लगता है ऐसे साधकों को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। योग-शास्त्र हमें बतलाता है—"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" अर्थात् समाहित चित्त वाले योगी को जो बुद्धि पैदा होती है उसका नाम ऋतम्भरा है। वह यथा नाम तथा गुण वाली प्रज्ञा होती है। यह बुद्धि केवल मात्र सत्य को ही धारण करने वाली होती है। उसमें मिथ्यात्व की गन्ध भी नहीं है। जिस पुण्यकर्मा योगी को यह बुद्धि प्राप्त हो जाती है उसकी शेष वृत्तियां सब खत्म हो जाया करती हैं। वह जो कुछ सोचता है सत्य सोचता है, जो कुछ करता है सत्य करता है। यही एक ऐसी बुद्धि है जिसमें जाकर योगी सिद्धान्तों का सत्य निर्णायक बन जाता है। जब तक मनुष्य की इस प्रकार की स्थिति प्राप्त न हो। ऋतम्भरा प्रज्ञा के बिना संसार के लोगों के सामने किसी सिद्धान्त की स्थापना करना इसी प्रकार का है जिस प्रकार से कोई अन्धा किसी अन्धे को पकड़कर मार्ग-दर्शन का साहस करे। ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त योगी एक प्रकार का सिद्ध संकल्प होता है, उसको अपने किसी भी कार्य को करने के लिये अपने किसी विशेष बल के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऋतम्भरा प्रज्ञा सम्पन्न योगी यदि किसी के विषय में भी यह विचार करता है कि अमुक व्यक्ति धर्मात्मा हो जाये तो वह धर्मात्मा हो जाता है। यदि वह किसी को कह देता है कि 'स्वर्गम प्राप्नुहि' तो वह व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। उस समय योगी निर्वाणोन्मुखी वृत्ति को लेकरके अपनी संकल्प शक्ति से दूसरे के हृदय में ज्ञान का प्रकाश दिया करता है। लोगों की दृष्टि में उसके कार्य अलौकिक होते हैं और उसके ऐसे कार्यों को देखकर सभी लोग यह समझते हैं कि यह उनकी कोई सिद्धि है। किन्तु यह उस योगी की समाधि प्रज्ञा का बल होता है ऐसी दशा में योगी उत्प्रेरक बन जाता है। ये उत्तम साधक की तीसरी मदद हुआ करती है जो उसकी बुद्धि में ही प्रगट हो जाती है, जो उसके गुरुदेव के शुद्ध संकल्प का परिणाम होता है। इस विषय में मैंने अपने गुरुदेव श्री प्रभुजी की अनेकों घटनाओं का स्वयं अनुभव किया है। अन्यान्य अनेकों उदाहरण भी अपने सिद्धयोग के विद्यार्थियों को बतलाता रहता हूँ।

अतः यह परमावश्यक है कि साधक संयम बल को प्राप्त करने के लिये तपश्चर्या और ब्रह्मचर्य वृत्ति के साथ-साथ ईश्वर-कृपा व गुरुदेव के अनुग्रह को प्राप्त करे तभी संयम सिद्धि के पवित्र फल को प्राप्त कर सकेगा।

★ आत्मा ही तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि वहीं पर तुम्हें परम शान्ति अथवा मुक्ति प्राप्त होगी।

× × ×

★ तुम विनम्रता आदि सद्‌गुणों पर ही अटूट श्रद्धा रखो। जहाँ तक दुर्बलता है, वहीं तक तुम दोषों से दब जाते हो और तुममें दुर्बलता तभी तक है, जब तक तुम जितेन्द्रिय नहीं हो।

—साधुवेश में एक पथिक

सम्पादकीय :—

बुद्धियोग

परमपिता परमात्मा का दर्शन परम शुद्ध अन्तःकरण में ही सम्भव होता है। इष्ट या ईश्वर का स्थूल दर्शन हो जाने पर भी जीव का परम कल्याण सम्पादन नहीं होता। वेद में 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' का उद्घोष प्रसिद्ध है। आत्म-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। ईश्वर के सगुण उपासना का फल भी आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान ही है। जो भगवान को अपना सर्वस्व मानकर मन-प्राण से युक्त होकर भगवान की लीला, चरित्रों एवम् कथाओं को एक दूसरे को सुनाते और सुनते हैं उनके लिए भगवान कहते हैं :—

तेषां सततयुक्तानां भजताम् प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

अर्थात् निरन्तर मेरे ध्यानादि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजन करने वाले भक्तों को मैं तत्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। आगे फिर कहते हैं—

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।

उन भक्तों के अन्तःकरण में स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानान्धकार को प्रकाशमय तत्वज्ञानरूप-दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

इस प्रकार से भगवान ने गीता में सगुण उपासना का फल तत्वज्ञानरूप योग ही बताया है। गीता के अठारहवें अध्याय में भी भगवान ने बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव। अर्थात् बुद्धियोग का आश्रय लेकर निरन्तर परमात्मा में चित्तवाला होने का आदेश दिया है।

योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा को योग की बहुत उत्कृष्ट भूमिका मानी जाती है। इस प्रज्ञा के प्राप्त हो जाने पर योगी को वह दृष्टि मिल जाती है जिससे वह पर-दर्शन के योग्य हो जाता है। उपनिषदों में भी इस बात का स्पष्ट संकेत है कि आत्म-तत्व का दर्शन सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि से ही सम्भव है। बुद्धि की सूक्ष्मतम अवस्था ही योगशास्त्र में विवेक-ख्याति के नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही प्रज्ञा प्रसाद या अध्यात्म प्रसाद भी कहा जाता है। इस प्रज्ञा के उदित होने पर अन्य जितने भी संस्कार हैं वह रुक जाते हैं, केवल प्रज्ञाजन्य संस्कारों का प्रवाह ही चित्त में प्रवाहित होता रहता है। योगदर्शन का सूत्र है—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ।

इस अवस्था के पा जाने पर योगी संस्कारों के अधीन नहीं रहता, संस्कार उसके अधीन रहा करते हैं। चित्त में जो भी संस्कार अभुक्त रहा करते हैं उन सबको योगी अपने संकल्प से सामने लाकर सूक्ष्मीकरण की विधि से भुगतान में ले लेता है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी सर्वत्र अपने को व्याप्त देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि ।

अर्थात् ऐसी स्थिति में योगी सभी प्राणियों को अपने अन्दर देखता है और अपने को सभी प्राणियों में देखता है। अहं, इदम्, अस्मि, ब्रह्मतत्व आदि का जो बोध होता है यह भी बुद्धि के ही धर्म है। ईष्ट में तद्रूप होना तथा एकाकार देखना भी इसी अवस्था के फल हैं। सद्गुरुदेव भगवान अपने प्रवचनों में कहा करते थे कि अखण्ड मण्डलाकार तेज में लीन देखना भी सम्प्रज्ञात समाधि की ही अवस्था है। जो कुछ भी बुद्धि के अनुभव में आ रहा है वे सब सम्प्रज्ञात की ही भूमिकायें हैं। बुद्धि के क्षेत्र की बातें हैं। बुद्धि तत्व से भी 'अस्मि' वृत्ति को लाँघकर ही योगी निर्बीज में अवस्थित होता है। तभी योगी कैवल्यभाक् बन जाता है।

नित्य स्मरणीय हमारे सद्गुरुदेव भगवान अपने प्रवचन में बताया करते थे कि सिद्धयोग परम्परा में गुरुदेव का अन्तिम व सर्वोत्कृष्ट शक्ति प्रक्षेप जब होता है तब साधक की बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है। उसे स्वतः ही तत्वबोध होने लगता है। आत्मदेव गुरुदेव अपनी व्यापक आत्म-सत्ता से शिष्य के बुद्धिस्थ होकर उसके मन में आने वाले सारे संशयों का निवारण कर देते हैं। 'भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः' की उक्ति सहज ही चरितार्थ हो जाती है। इस अवस्था में गुरुदेव अपने शिष्यों के उत्प्रेरक बनकर उनमें निवास करते हैं।

गुरुदेव भगवान के चरण-शरण में बैठकर फिरोजाबाद के टाट वाले बाबा (रघुनन्दन प्रसाद जी) तथा अनान्य साधकों ने साधना की। गुरुदेव की करुण-कृपा से कुछ ही महीनों में उन्हें 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की प्राप्ति हो गई जिसके फलस्वरूप वे लोग भूत भविष्य के ज्ञाता बन गये थे। उनमें स्फुट प्रज्ञालोक का उदय हो गया था। यह सर्व-समर्थ गुरुदेव के संकल्प का ही फल था। इस प्रकार का संयोग परम गुरुभक्त एवम् अत्यन्त पुण्यात्मा व्यक्ति को ही मिला करता है। गुरुदेव भी वही 'बुद्धियोग' सहज में ही शिष्य को प्रदान कर देते हैं जिस बुद्धियोग की बात भगवान ने गीता में कही है। किसी भी उपाय से हो चाहे भगवद्भक्ति से हो, गुरुभक्ति से अथवा साधना के बल से हो, इस बुद्धियोग की प्राप्ति आवश्यक है इसके अभाव में जीव दृष्टिविहीन ही होता है।

गुरु-पूर्णिमा का पावन पर्व

[आषाढ़ शुक्ला १५ सम्वत् २०५३ वि०]

❀ श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

व्यास पूर्णिमा का मंगलमय पर्व हमारे अपने देश में सर्वत्र गुरु-पूर्णिमा के रूप में उल्लास और उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। संसार में ईश्वर प्रदत्त ज्ञान-शक्ति का वितरण गुरु-परम्परा द्वारा ही सृष्टि में सदा से होता चला आता है। गुरु-पूर्णिमा ही एक ऐसी आदर्श परम्परा है जो सृष्टि के उस आदि तत्व का रहस्योद्‌घाटन किया करती है, जो अदृश्य, अलख और अगोचर रहकर ही सबका कल्याण किया करता है, सबका भार-वहन किया करता है, सबका नियन्त्रण किये रहता है, सबको सबके कर्मफलों का यथोचित फल प्रदान किया करता है, जो सर्वगुणागार होते हुए भी निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निरञ्जन बना हुआ है, जिसे सन्तों और सुकवियों ने "आनन रहित सकल रस-भोगी, बिनु वाणी वक्ता बडयोगी" कहकर परिभाषित किया है, वेदों ने भी जिसे 'अपाणिपादो जवनो गृहीता, पश्यत्यचक्षु स श्रृणोत्य कर्ण:' कहा है, सूर्य चन्द्र और असंख्य ज्योति पुञ्ज सितारे जिसकी आभा से ही आभासित होकर संसार को ऊर्जा और प्रकाश प्रदान किया करते हैं, योगियों और साधकों ने जिसे अपनी हृदय गुहा में ही प्रत्यक्ष करने में अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया है, जो गिरा अनयन नियन बिनु वाणी जैसी स्थिति में आकर औरों को कुछ भी बता पाने में अपने को असमर्थ-सा अनुभव करने लगते हैं। ऐसा है वह तत्व।

गुरु शब्द का अर्थ ही होता है—वह शक्ति-तत्व जो हृदय के अज्ञान-अन्धकार का नाश करके उसे आलोक से जगमग और जागृत कर दे। शिष्य के अन्तर में निहित उसकी पाशविक प्रवृत्तियों को दैवी प्रवृत्तियों में परिवर्तित कर दे। जो लोक-कल्याण कर देने की सहज प्रवृत्ति रखते हैं, मानव-सेवा जिनका स्वाभाविक धर्म होता है, जो अपनी किसी कृपा के लिए शिष्य से उसकी आन्तरिक श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रतिफल की आकांक्षा नहीं रखते, वे ही इस गुरु-परम्परा में सद्‌गुरु कहलाते हैं। और ऐसे ही सद्‌गुरुओं के बारे में 'गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः' एवं गुरुः साक्षात् परब्रह्म जैसे ऊँचे भावों की सृष्टि हुई है। सद्‌गुरु के सम्मान में सद्‌शिष्यों की इससे ऊँची भावना और क्या हो सकती है?

लेकिन नहीं, सद्‌गुरु के प्रति सद्‌शिष्य के के हृदयोद्‌गारों की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। हिन्दी भाषा के एक सन्त कवि, अपने मानसिक उद्‌गारों को अपनी कल्पना का आश्रय देकर इससे भी और अधिक ऊपर उड़ाकर ले जाते हैं। गोविन्द और गुरु दोनों ही अपने दिव्य-रूप में शिष्य को साथ-साथ दर्शन देने की कृपा करते हैं। दोनों उसके सामने हैं। शिष्य सन्देह में पड़ जाता है कि इन दोनों में से पहले किसके चरणों में झुकूँ। गोविन्द के या गुरु के चरणों में? कौन इसमें बड़ा और कौन छोटा है? वह दुविधा में है।

एक निश्चय पर नहीं पहुँच पा रहा है। संशयात्मक बुद्धि का निवारण करने के लिए सन्त-कवि की यह रचना उसके कानों में गुञ्जायमान होने लगती है :—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
'बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोविन्द दियो
मिलाय' ॥

सद्शिष्य का सन्देह मिट जाता है, वह गोविन्द को नमन न करके अपने सद्गुरु को पहले प्रणाम करता है और उनकी स्तुति करते हुए कहता है—हे मेरे गुरुदेव ! आपही मेरे लिये प्रथम स्तुत्य और नमनीय हैं क्योंकि आपकी कृपा से ही मुझे जगदाधार गोविन्द के दिव्य-दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो पाया है। कितना अकाट्य तर्क है यह सद्गुरुदेव की वरीयता का।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने इसीलिये तो गुरुदेव की महत्ता के सम्बन्ध में कहा है—

'जिनका स्मरण करते ही शिष्य में समस्त विद्याएँ आ जाती हैं उन श्रीगुरु-चरणों की मैं वन्दना करता हूँ। जिनका स्मरण करते ही काव्य-शक्ति आ जाती है, सारी साधनायें सफलता के बिन्दु पर सहज ही जा पहुँचती है, सब प्रकार की रसाल वक्तृतायें जिह्वा के अग्र भाग पर आ उपस्थित होती हैं, जिनके स्मरण मात्र से काव्य की मधुरता के आगे अमृत फीका पड़ जाता है, रहस्यमय ज्ञान के परदे खुल जाते हैं, सम्पूर्ण आत्मबोध जिनके संकेत मात्र से प्राप्त हो जाता है उन अपने श्रद्धेय गुरुदेव की मैं सादर वन्दना करता हूँ। जगत में मुझे कोई ऐसा उपमान नहीं मिल पाया जिसे मैं अपने गुरुदेव की उपमा में रख सकूँ। सचमुच वे अनुपम हैं, समस्त संसार को मन्थन करने वाला जो काम-विकार है उस काम-विकार को नष्ट करने वाले कामारि शिव मेरे गुरुदेव ही हैं। जिस पर भी गुरुदेव की कृपा-दृष्टि पड़ जाती है, जिसका भी स्पर्श उनका कोमल-कर कर लेता है उसका तत्काल कल्याण हो जाता है। जिसका चारु-चरित्र आकाश से भी अधिक स्वच्छ निर्लेप है, सागर से भी अधिक गम्भीर और मर्यादाशील है, मैं कैसे, कहाँ तक उनके बहु-संख्यक गुणों का वर्णन करूँ।'

सन्त ज्ञानदेव जी के ये शब्द हैं, जिनका उल्लेख हमने यहाँ किया है। उनके तथा अन्य मनीषियों के सद्गुरुदेव के महत्व में और अधिक विचारों का यहाँ देना विस्तार-भय से सम्भव नहीं है। संक्षेप में इतना लिख देना ही पर्याप्त है कि मनुष्य मात्र के आध्यात्मिक उत्थान और उसके त्रयतापों के उन्मूलन की अमोघ औषधि यदि यहाँ कोई है तो वह सद्गुरु तत्त्व में ही निहित है जिसे विरले भाग्यशाली शिष्य ही अपने सद्प्रयत्नों से पा लिया करते हैं। यह प्राप्ति विशेष रूप से श्रद्धालु शिष्यों को सहज में ही हो जाया करती है। जो अश्रद्धालु होते हैं वे न तो जीवन की अमूल्य निधि ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं न ज्ञान-प्रदाता अपने सद्गुरुदेव को ही। गुरु-पूर्णिमा के इस पावन पर्व पर हम और आप सभी अपने परमपूज्य आराध्य, सिद्धियों और योग-ऐश्वर्यों के आगार विश्व-विश्रुत सद्गुरुदेव अनन्तश्री-विभूषित श्री चन्द्रमोहन जी महाराज और उनके श्री सद्गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की अपार कृपाओं को स्मरण करते हुए उनके पावन चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करें और उनसे ही यह अनुरोध करें कि हमें अपने निर्देशित उस योग-साधना के मार्ग से कभी भी दिग्भ्रमित न होने दें जिसे आपने दीक्षा-मन्त्र के रूप में हमें दिया था। अपने कर्तव्य-

पालन का जो विशाल कोष आपने हमारे लिए छोड़ा है, व्यक्ति समाज और देश के नव-निर्माण के लिए योग सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जितने साधन आप हम सबके लिए छोड़कर गये हैं वे पर्याप्त से अधिक ही कहे जा सकते हैं, यदि हम सब जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में आप से रहा है, आपके प्रतिरूप और आपके द्वारा दी गई सद्‌शिक्षाओं को अपने मन में प्रतिष्ठापित करके निष्काम भाव से कार्य क्षेत्र में समान हृदयों और मनों को लेकर आगे बढ़ेंगे तो कोई कारण नहीं कि आश्रम की प्रवृत्तियाँ जिन्हें गुरुदेव अपने पाँच भौतिक देह का परित्याग करते समय छोड़ गये हैं उन्हें और अधिक गति दे सकें। सवाई ग्राम की पावन भूमि को श्रद्धालु गुरुदेव के प्रत्यक्ष रूप के अभाव का जो आघात लगा है उसे हम सबके सम्मिलित प्रयास ही तिरोहित कर सकते हैं, एक सिद्ध तीर्थ के रूप में इसे विकसित करके। वैसे सिद्ध तीर्थ तो इसे गुरुदेव ही अपनी अलौकिक लीलाओं से बनाकर गये हैं। हमें तो केवल इसके विकास और फैलाव पर तथा इसकी सुव्यवस्था पर अपना ध्यान केन्द्रित करना है।

गुरु-पूर्णिमा का यह पावन पर्व हम सभी गुरु भाई-बहनों के लिए यही शुभ-सन्देश लेकर आया है कि हम अनुशासन, व्यवस्था और पारस्परिक सहयोग की मर्यादाओं को पहचानें और स्वयं के लिए अधिकार से अधिक कर्तव्य-पालन के अपने क्षेत्र को जानें। इसी सत्य को उद्‌घोषित किया है जगद्‌गुरु भगवान श्रीकृष्ण ने अपने अनुपम ग्रन्थ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

अर्थात् कर्म में तेरा अधिकार है, कर्म के फल में नहीं।

अपने निष्काम कर्तव्य पालन का हम सब गुरु-पूजन की इस पावन बेला में व्रत और संकल्प ग्रहण करें, यही सन्देश लाई है इस पर्व की व्यास-पूर्णिमा।

★ जिस प्रकार इच्छा होने पर भी समय विपरीत होने से मनुष्य को मृत्यु और अपयश आदि प्राप्त होते हैं, वैसे ही समय की अनुकूलता होने पर इच्छा न होने पर भी उसे आयु, लक्ष्मी, यश और ऐश्वर्य आदि भोग भी मिल जाते हैं। इसलिए मनुष्य को यश-अपयश, जय-पराजय, सुख-दुःख, जीवन-मरण, में सभी परिस्थितियों में समभाव से रहना चाहिए।

—श्रीमद्‌भागवत

× × ×

★ ईश्वर के अस्तित्व का केवल बौद्धिक प्रमाण माँगना उसी प्रकार से है जैसे अपने कानों द्वारा देख सकने का विशेषाधिकार माँगना।

—श्री मेहर बाबा

समर्पण का अर्थ एवं स्वरूप

❀ श्रीमति कविता शर्मा

समर्पण का अर्थ है लघु का विराट हो जाना, अंश का पूर्ण हो जाना, जीव का ब्रह्म हो जाना, और शिष्यत्व को गुरुत्व में परिवर्तित कर देना। अनुष्ठान, कर्मकाण्ड, मन्त्रजाप, चिन्तन, ध्यान और समाधि इसी भाव की ओर बढ़ने की प्रक्रिया है। क्षीण-धारा की भी परिणति कालखण्ड को सीमित करने का एक पक्ष मात्र होता है। प्रत्येक व्यक्ति-इसी विराट सत्ता का अंग है और इसी पर जाकर पूर्ण हो रहा है। एक क्षुद्र कीट भी ब्रह्म की स्थिति प्राप्त कर सकता है, समर्पण केवल उसे पूर्णता की ओर गति से अग्रसर कर देता है। समर्पण सही अर्थों में जीवन की गति है। यह केवल शिष्यत्व या साधकत्व का ही एक अनिवार्य अंग नहीं है वरन् यह तो पूरे मानव-जीवन की श्रेयता है। गुरु-शिष्य के मध्य तो यह अनिवार्य विषय है लेकिन इसकी सीमित सीमायें और भी अधिक सुदूर तक विस्तारित हैं।

गुरुदेव की शास्त्रों में संज्ञा जहाँ "शाम्भव" है अर्थात् समुद्र है वहीं उन्हें "व्योमवत् व्याप्त" भी कहा गया है। किसी विराट गगन-मण्डल की तरह, किसी वेवरल वायु-मण्डल की तरह वे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विस्तारित हैं। और जब शिष्य समर्पित होता है तो उसे कुछ करना नहीं पड़ता है, आगे बढ़कर इस विरलता में खो जाना होता है। हमारे मन्दिर, हमारे उपासना स्थल, हमारे साधना स्थल सभी इसी बात को प्रतीकात्मक रूप से कह रहे हैं। नीचे चौड़ा आधार क्रमशः पतला होता हुआ शिखर और अन्त में उस शिखर के भी बिन्दुवत् क्षेत्र के ऊपर निस्सीम आकाश स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म में लीन होते हुए व्योमवत् हो जाने की क्रिया का स्पष्ट संकेत है। यही स्थिति प्रत्येक साधक को अपने जीवन में स्पर्श करनी ही पड़ती है।

समर्पण स्व का अन्त नहीं स्व की पूर्णता है। समुद्र से एक बूंद उठती है तब उसका कोई भी आकार-प्रकार या रूप-रंग नहीं रह जाता। सूरज की गर्मी से तप्त होकर जो एक जलकण खोता है वही अनेक कणों से मिलकर बादल बन जाता है। तृप्ति देने के लिए आतुर और सक्षम शिष्य भी इस जीवन के महासमुद्र में विषमताओं की अग्नि में तपकर विरल हो गई एक लघु बूंद ही तो है और जब वह ऐसे ही अनेक बार अपना अस्तित्व खो चुकी बूंदों से मिल जाता है तो बादल बन जाता है जिससे फिर किसी और को धूप में झुलसना न पड़े, किसी और को बिना वर्षा के सूखकर समाप्त हो जाने की नियति न झेलनी पड़े।

नदी मैदान, पठार सभी को पार करती

है, उलझती है, अटकती है, प्रवाह भी कम पड़ता है और जल भी घट जाता है फिर भी आगे बढ़ती रहती है और समुद्र में विलीन होकर पूर्णता प्राप्त कर लेती है। ठीक उसी प्रकार यह जीवन भी भौतिक सुखों के हरे-भरे मैदान और कठिनाइयों के पठार, पहाड़ में उलझता, लड़ता हुआ अन्त में जाकर गुरु रूपी समुद्र में समाहित हो पूर्णता प्राप्त करता ही है जिन्हें जीवित और साकार ब्रह्म की उपमा दी गई है।

यदि आँख की कोर में थोड़ी-सी श्रद्धा भर कर देखा जाये तो वे ही साक्षात ईश्वर हैं। आँख में समर्पण की एक झिलमिलाहट भर कर उनकी ओर निहारना ही जीवन की न मिटने वाली घटना होती है। दृश्य आते हैं और चले जाते हैं, परिचय होते हैं और टूट जाते हैं, सम्बन्ध बनते हैं और काल के गर्त में जाकर समा जाते हैं, लेकिन एकबार आँखों में चमक भरकर कनखियों से गुरु की ओर निहार लेना, इनमें कुछ का कुछ और देख लेना यही जीवन की स्थायी घटना बन जाती है और यही घटना अविस्मरणीय होती है क्योंकि यह काल के प्रभाव में हुई कोई घटना नहीं होती है। व्यक्ति जब काल के सतत् प्रवाह में बहता हुआ थोड़ा-सा रुकता है तभी वह ऐसा कुछ हो पाता है। और यही समर्पण है जब व्यक्ति का अपना होना, अपना अस्तित्व संभाले रखना ही बोझ लगने लगे। दो होने की भावना ही उसको मथकर रख देती हो, जब वह एक और केवल एक ही रह जाने का प्रबल इच्छुक हो उठा हो तभी समर्पण की घटना घटित होती है।

यह तो जीवन का एक आग्रह है, अपना अस्तित्व खोजने की चेष्टा है, अपनी पहिचान प्राप्त कर लेने की तड़प है और यह पहिचान उसकी पहिचान होने पर ही पूर्ण होती है, तब दो रह ही नहीं जाता, "जब मैं था तब तू नहीं, अब तू है तो मैं नहीं।" प्रेम की गली सकरी होती है या नहीं, लेकिन प्रेम की गली में दो का बोध खटकने लगता है। मानव एक नये पथ पर चल पड़ता है। वह जानता है कि वह एक क्षुद्र जीव नहीं वरन् साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। और यही बोध उसमें निरन्तर त्वरा देता है।

समर्पण जीवन की सर्वाधिक सरल और सहज क्रिया है। क्या हम साँस लिये बिना रह सकते हैं, नहीं। और हम समर्पण किये बिना भी नहीं रह सकते क्योंकि समर्पण का अर्थ ही है—अपनी पहिचान प्राप्त कर लेना। यह रिक्त होना नहीं है न अपना अस्तित्व ही समाप्त कर देना है। समर्पण की ऐसी धारणा ही गलत है। समर्पण तो गुरुकृपा की फुहार में भीगकर अपने आपको सरस कर लेने की क्रिया है। समर्पण का आरम्भ गुरुदेव हैं और समर्पण का इति भी गुरुदेव हैं।

जिस प्रकार सूखी धरती वर्षा की फुहारों से भीग कर ही बीज को अंकुरित करने की क्षमता प्राप्त कर पाती है। इसी तरह गुरु-कृपा से अपने जीवन में तृप्त सरस व पूर्ण होकर श्रद्धा, भक्ति व प्रेम के अंकुरों को प्रकट करना होता है जिसकी लहलहाती छाया में अपना जीवन तो फलदार होता ही है, दूसरों को भी सुखद छाया मिलती है। कुछ भी नहीं करना होता है समर्पित होने के

लिये। नदी जब चलती है तब वह चीख-चीखकर नहीं कहती है कि देखो मैं समुद्र से मिलने जा रही हूँ। वर्षा की टपकती बूंद कभी नहीं कहती कि मैं धरती को सरस करने जा रही हूँ। प्रकृति का मौन व्यापार प्रत्येक काम पर समर्पण ही तो व्यक्त कर रहा है क्योंकि उसमें आग्रह है। जिस दिन गुरुदेव से साक्षात्कार हो जाये, गुरु कृपा का स्पर्श मिल जाये उसके बाद कुछ करने को शेष रह नहीं जाता और जो शेष रह जाता है तो वह होती है अदम्य लालसा कि कब मेरा मार्ग पूर्ण होगा और कब मैं जाकर अपने जीवन का अर्थ प्राप्त कर लूंगा। यह सच है कि समुद्र आगे बढ़कर नदी के पास नहीं आता, लेकिन यह भी सत्य है कि नदी से अधिक आग्रह समुद्र का ही होता है क्योंकि अंश के प्रति एक मर्यादा होती है कि वह अपनी व्यग्रता प्रकट नहीं कर सकता। जल में जल ही मिल सकता है, जल में तेल अगर मिल भी जाये तो वह घुल-मिल नहीं सकता। नदी की सम्पूर्ण यात्रा इसी निर्मलत्व को प्राप्त करने की होती है और समुद्र अपनी गर्जना से, अपनी लहरों के प्रवाह से अपने हृदय की बात कहता ही रहता है। जब नहीं सहन कर पाता तब वह ज्वार के रूप में कुछ कहता है और ज्वार समीप हो तब तो मात्र एक कदम ही और बढ़ना पड़ता है समुद्र के विशाल प्रवाह में निमग्न होने के लिये।

ऐसा ही एक अवसर है गुरु-पूर्णिमा का जो समुद्र के ज्वार की तरह ही है। जो नदियां कई ऊबड़-खाबड़ मार्गों को पार कर अन्त में आकर निश्चेष्ट हो गयीं उनको अपने वक्ष-स्थल से लगा लेने का उपाय है। समुद्र के समीप आ जाने पर नदी का प्रवाह फिर मन्द पड़ ही जाता है। अनगिनत स्मृतियां, अनगिनत संस्मरण, दुःखों के भी और सुखों के भी, कठिनाइयों के भी और छलछलाहटों के भी, हरे-भरे मैदानों के भी और सूखे पठारों के भी। नदी मानो एक क्षण रुककर सब याद करती है और फिर अपने जीवन की श्रेष्ठता को देखते हुए, उसे पहचानते हुए समुद्र में जाकर लीन हो जाती है।

इन चन्द कदमों को जो थक गये होते हैं उनसे अब न चला जा रहा होता है न बढ़ा जा रहा होता है तब उन्हें समुद्र आगे बढ़कर अपने ज्वार के माध्यम से अपने हृदय में प्रेम और करुणा के द्वारा पूर्ण कर देता है। एक क्षण के लिये वह अपनी मर्यादा छोड़ देता है पर यह क्षण अल्प होता है। ज्वार के बाद भाटा आता है और फिर कब वह घटना दोहराई जायेगी इसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

वास्तव में इसे समर्पण की संज्ञा दी गई है। इसके लिये कोई भी क्रिया-कलाप आवश्यक नहीं। नदी स्वतः ही बहकर वहां तक आ चुकी है जहां तक आ सकती थी। अब तो आगे का कार्य समुद्र स्वयं ही पूरा कर लेगा क्योंकि समर्पण के लिये बोलकर अभिव्यक्त करना आवश्यक है ही नहीं। समर्पण बोलकर अभिव्यक्त किया ही नहीं जा सकता। यह एक ऐसी स्थिति है जहां मौन ही बातों को प्रेरित करने का माध्यम बन जाता है। यदि मौन संवाद नहीं हुआ तो फिर समर्पण भी पूरा नहीं हुआ, हृदय की एकाकारिता हुई ही नहीं क्योंकि समर्पण तो हृदय के एक हो जाने का व्यक्त रूप है, समतुल्य हो जाने का विनम्र प्रयास है। यद्यपि एक रज-कण पर्वत की समता नहीं कर सकता लेकिन वह उस पर्वत का अङ्ग तो बन सकता है और गुरु भी प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कब

उसका शिष्य दिव्य पथ पर चलने की उत्कण्ठा से भर जायेगा। वह तैयार हुआ नहीं कि गुरु कृपा हो गई। संकल्प होठों से हृदय तक पहुँचा नहीं कि जीवन में गुरु का आगमन हो गया, धरती तपी नहीं कि वर्षा की एक बूंद आकर उसे भिगो गई।

गगन तो सदा से प्रतीक्षा करता ही रहता है कि कोई अपना अस्तित्व खो रही बूंद भाप बनकर उठे और वह उसे अपने वक्षस्थल से लगा ले और उसे रुई के कोमल जैसे बादलों में बदल दे जो उसके वक्षस्थल पर स्वप्नों की तरह तिरता रहे हल्का और कोमल बनकर। गुरु और शिष्य सम्बन्ध भी आकाश और मेघ का ही सम्बन्ध है। इसी से मेघ की संज्ञा हुई, मेघ जो घना हो, आकाश का एक भाग हो और जिसमें गर्जन हो। ऐसी ही काली उमड़ती-घुमड़ती घटाएँ, शिष्यों के ऐसे समूह ऐसे ही मेघों की प्रतीक्षा में यह धरती तपकर चिरव्याकुल हो गई है यही समर्पण का अर्थ है।

भाग्यवान् के लक्षण

भाग्यवान् का पहला लक्षण यह है कि वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता। वह अपने सभी सांसारिक कामों को बहुत अच्छी प्रकार देखता है।

× × ×

वह जब कुछ कमा लेता है तभी खाता है, कष्ट में पड़े लोगों को उबारता है और अपना शरीर किसी-न-किसी अच्छे काम में लगाता है। अपने वचन, कर्म अथवा किसी भी प्रकार के व्यवहार से दूसरों की सद्भावनाओं को ठेस पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करता।

× × ×

भाग्यवान् पुरुष का यह भी एक लक्षण है कि वह सबको आत्मवत् समझता है और सबके मंगल में ही अपना मंगल समझता है।

× × ×

प्रमाद और संशय को वह अपने पास तनिक भी नहीं फटकने देता। सब पर सहज विश्वास उसका प्रमुख गुण होता है। अच्छे लोगों की संगति और प्रभु-चर्चा में उसके दैनिक जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत होता रहता है।

× × ×

वह यह समझकर कि जो बोया जाता है वही उगता है—संसार-क्षेत्र में सदा सत्कर्मों के बीज ही बोया करता है।

× × ×

भाग्यवान् का यह भी एक लक्षण है कि वह भूतकाल का परेखा न करके सदा वर्तमान को सम्हालने में संलग्न रहता है। —एक सन्त की वाणी

कर्मफल की व्यवस्था
सृष्टि की स्थिरता का सुनिश्चित आधार

✲ श्री राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू), ऐत्मादपुर, (आगरा)

अपवित्रता ईश्वर को पसन्द नहीं है। अपवित्रता अधर्म को जन्म देती है। पवित्रता के अभाव में बुद्धि दूषित हो जाती है जो शुभाशुभ कर्मों के यथार्थ स्वरूप को समझने में सक्रिय अपनी दूरदर्शिता को नष्ट कर देती है। ऐसी दूषित बुद्धिवाले अविवेकी पुरुष लाभ-हानि के प्रत्यक्ष परिणामों से प्रेरित होकर कर्म करने में संलग्न रहते हैं। लेकिन विलम्ब से प्राप्त होने के कारण, उन कर्मों के सूक्ष्म परिणामों के प्रति वे लापरवाह रहते हैं। कम संघर्ष में अत्यधिक लाभ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने की चाह में मनुष्य अधर्म के मार्ग पर उतर आता है। प्राकृतिक रूप से यह सत्य है कि गिरने में समय कम लगता है, और गिरने में आसानी भी रहती है। लेकिन पृथ्वी से टकराने के उपरान्त भारी कष्ट भी उठाना पड़ता है। तुच्छ सांसारिक विषय-भोगों के लोभ में आकर, बुराइयों में जाना तथा कुमार्गी होना अति सहज है। लेकिन कालान्तर में इसका प्रतिफल अतिशय दुःख के रूप में प्रकट होता है। सर्वसाधारण को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि अधर्म का मार्ग पतन है जिसका लक्ष्य बिन्दु केवल घोर नरक है। स्थूल रूप में धर्म तथा अधर्म का भेद सरलता से स्पष्ट हो जाता है। नियमानुकूलता ही धर्म है तथा नियमों के प्रतिकूल होना ही अधर्म है। इनके सूक्ष्म परिणामों की अनुभूतियों में विपरीत सम्बन्ध होता है। धर्म 'सुख' की अनुभूति कराता है तथा अधर्म दुःख को। दुःख प्रत्येक प्राणी द्वारा एक अवांछनीय तत्व है। 'दुःख' एक प्रेरणा है जो प्राणी को धर्मानुकूल होने की प्रेरणा देता है। दुःख वह अन्तिम गुरु है जो प्राणी को नियमानुसार कार्य करने की शिक्षा देकर, उसमें सुधार करता है।

ईश्वर के अपने नियम हैं। प्रकृति के अपने नियम होते हैं। एक देश के, समाज के अपने पृथक नियम हैं। सृष्टि व्यवस्था नियमों से जुड़ी है। उचित लाभ प्राप्ति में उचित रूप से नियम पालन की अनिवार्यता निहित है। सभी सम्प्रदायों के विभिन्न धार्मिक ग्रन्थ सार रूप में सिर्फ एक ही सूचना अथवा शिक्षा देते हैं—"दूसरों को सुख पहुँचाने से बढ़कर कोई श्रेष्ठ पुण्य कर्म नहीं है, और दुःख पहुँचाने से बढ़कर कोई पाप कर्म नहीं है।" नियमों के विरुद्ध होने पर स्वयं का तो पतन होता ही है, दूसरों को भी हानि उठानी पड़ती है जो कि एक अन्याय है। नियमानुसार पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है। परिक्रमायें अपनी-अपनी कक्षाओं के अन्तर्गत ही करना, पृथ्वी तथा चन्द्रमा के आवश्यक नियम हैं। यदि चन्द्रमा अपने नियम की अवहेलना करके पृथ्वी की कक्षा में प्रवेश कर जाय तो दोनों पिण्ड आपस में टकराकर प्रलय को जन्म दे देंगे। केवलमात्र एक पिण्ड

के द्वारा नियमों की अवज्ञा से, अन्तरिक्ष के सभी पिण्डों की नियम व्यवस्था प्रभावित हो जाती है, परिणामस्वरूप सकल सृष्टि का महाविनाश होता है। नियमों के विरुद्ध होने पर स्वयं का तो पतन होता ही है, दूसरों को को भी हानि उठानी पड़ती है जो कि एक अन्याय है। प्रलय होने का यह तो रहा एक वैज्ञानिक विश्लेषण। वैज्ञानिकों की दृष्टि प्रकृति में होने वाली हलचलों तक ही सीमित है। इन्हीं प्राकृतिक गतिविधियों के आधार पर ही वे प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को खोजने में तथा विज्ञान के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने में समर्थ होते हैं।

मनुष्य भी अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए धार्मिक नियमों के प्रतिकूल होकर स्वयं तो कष्ट उठाता ही है, दूसरे निर्दोष लोगों को भी परोक्ष रूप से कष्ट पहुँचाकर उनके प्रति घोर अन्याय करता है और पाप का भागी बनता है। 'अन्याय' ही अधर्म का वास्तविक रूप है। अन्याय सदैव असत्य की जड़ों वाले वृक्षों पर ही फलता-फूलता है। यह असत्य ही तो विनाशकारी है। जब असत्य विकराल, बलिष्ट जड़ों को फैलाकर समस्त भूमण्डल को अपनी जकड़न में लेकर मलिन कर देता है तब सर्वत्र अपवित्रता की दुर्गन्ध फैल जाती है। और अधर्म का शासन स्थापित हो जाता है। धीरे-धीरे पनपती अधर्म की क्रूरता को भगवान शिव और अधिक सहन नहीं कर पाते, और अति क्रोधित होकर महाप्रलय कर नई सृष्टि का सृजन करते हैं। यह है प्रलय होने का एक सूक्ष्म कारण जिस पर समस्त ईश्वर-भक्त धार्मिक-समुदाय विश्वास करता है। स्थूल रूप में तत्काल मिलने वाले प्रत्यक्ष परिणामों में भेद होने के कारण ही मनुष्य शुभाशुभ कर्म करने के लिये प्रेरित होते हैं। जो तत्व ज्ञानी महापुरुषों की शरण में हैं वे कर्मों के सूक्ष्म परिणामों पर विश्वास कर, सदैव शुभ कर्म ही करते हैं। संसार में धर्म, सुख-शान्ति की स्थापना हेतु ऐसे शुभ कर्मों को करने वाले पुरुषों का प्रतिशत बहुत कम है। शेष नास्तिक लोग, विज्ञान के प्रत्यक्ष चमत्कारों के प्रभाव में आकर वैज्ञानिक सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले, कर्मों के सूक्ष्म प्रभावों को मात्र अन्धविश्वास कहते हैं। ऐसे पुरुषों में निर्भय होकर, अपने स्वार्थ हित में, अशुभ कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। संसार में ऐसे पुरुषों का प्रतिशत धार्मिक पुरुषों की अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। यही लोग विश्व में अधर्म को विकसित करने के सच्चे दोषी हैं।

परमेश्वर परम दयालु हैं वह समस्त प्राणियों का सुहृदय है। वह भले-बुरे सभी प्राणियों का कल्याण करना चाहते हैं। वह जानते हैं कि मानव-मन बहुत चञ्चल है, अतः संसार में जब भी अधर्म स्थापित हुआ वह लोगों को धर्म के प्रति जागरूक करने, उन्हें दुष्कर्मों की प्रवृत्ति से रोकने, सत्कर्मों में उनकी रुचि पैदा करने एवम् कतिपय कष्टों से पीड़ित मनुष्यों की आन्तरिक दुर्बलता को दूर कर उनमें शक्ति संचार करने के लिए, युग-युग में आवश्यकतानुसार अवतार लेते रहे हैं। वह लोगों में ज्ञानोपदेश की गङ्गा बहाकर चले जाते हैं। इस शुभ अवसर को जिन्होंने प्राप्त किया उन्होंने अपना जीवन धन्य किया, वे संसार-सागर से तर जाने की पात्रता का निर्माण कर सके। योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान इस सन्दर्भ में स्पष्ट कहते हैं, "जब-जब धर्म की हानि होती

(शेष पृष्ठ २८ पर)

सन्तोषात् परमं सुखम् !

श्री नारायण दत्त शास्त्री (वि० नि० आ० चि० अ०)
मालवन (करनाल)

एक धर्मात्मा पण्डित शिवालय में शिवपुराण की कथा, लोभ-लालच से रहित शिव की प्रसन्नता के निमित्त किया करता था। वह शुभ आचरण वाला सन्तोषी व्यक्ति था, परन्तु उसकी कथा में श्रोता व्यक्ति कम आते थे। वह इसकी परवाह न कर निश्चिन्त होकर अपने कार्य में ध्यान रखता था। कथा कहते तीन मास व्यतीत हो गये। घर से खर्च भेजने को बराबर पत्र आ रहे थे। परन्तु उसके पास कुछ हो तो भेजे और कथा की पूर्ण आहुति में भी कुछ विशेष चढ़ावे की आशा न थी। उसी ग्राम का एक लोभी साहूकार वन की तरफ शिव मन्दिर में गया और वहाँ पहुँचकर देखा तो शिवालय बन्द था और वहाँ से आवाज आ रही थी। साहूकार कान लगाकर सुनने लगा, सुनाई पड़ा कि हे प्राणपति सदाशिव ! आप अपने भक्तों की रक्षा करना क्यों भूल जाते हो, क्या यह उचित है ?

उत्तर—प्रिये पार्वती ! कौन-से भक्त की बात आप कहना चाहती हैं, मैंने तो सदा भक्तों की रक्षा की है ?

प्रश्न—हे स्वामी ! इसी ग्राम में चन्द्रशेखर महादेव के मन्दिर में जो पण्डित नित्य कथा वाचन करता है, वह आपका पूर्ण भक्त है। उसके घर बाल-बच्चे भूखे मर रहे हैं। शिवपुराण की कथा बाँचते-बाँचते बेचारे को तीन माह हो गए। अब तो कथा की पूर्णाहुति कराइये, वहाँ श्रोता भी बहुत कम आते हैं ब्राह्मण बहुत गरीब और सुशील है। अपने भक्त को पूर्णाहुति के दिन अच्छी रकम दिलवानी चाहिए।

उत्तर—हे देवी ! मुझे अपने भक्त का ध्यान है। मैं उसकी पूर्णाहुति परसों करा दूँगा और उसको भक्ति के अनुसार ही ग्यारह सौ रुपये दिलवाऊँगा।

पार्वती ठहाका मारकर बोली—हे देव ! मुझे तो ग्यारह सौ कौड़ियों की भी आशा नहीं है। तब शिवजी बोले—हे देवी ! क्या तुम्हें मेरी सामर्थ्य में अविश्वास है ? मैं परसों ग्यारह सौ रुपये अवश्य दिलवा दूँगा। साहूकार सारी बात सुनकर अपने घर लौट आया। और विचार करने लगा आज शिवजी के दर्शन तो नहीं हुए पर शिव-पार्वती की वार्ता सुनने को मिल गई जिससे मुझे दर्शन से भी अधिक लाभ होता दिखाई पड़ता है। शास्त्रों में श्रावण मास का जो महात्म लिखा है वह झूठ नहीं है। अगले दिन वह पण्डित के पास पहुँचा और हाथ जोड़कर कहने लगा—गुरुजी ! शिवपुराण की पूर्णाहुति कब है।

पण्डितजी ने कहा—सेठजी समय बेढब है, कथा कहते-कहते तीन माह बीत गए, घर आकर खर्च देने की जल्दी है इसलिए कल ही पूर्णाहुति कर दी जायेगी, प्रारब्धवश बच्चों के भाग्य से जो मिल जायेगा वही सही।

सेठजी ने कहा—कथा सुनने वालों में कोई सभ्य श्रद्धालु तो दीखता नहीं और ज्यादा श्रोता भी नहीं आते, चढ़ोत्तरी गुजारे लायक कहाँ से चढ़ेगी। इसलिये आप अपनी चढ़ोतरी का ठेका मुझे दे दें और आप बताएँ कि ठेके में आप क्या लेना चाहते हैं।

पण्डित जी बोले—सेठजी! जो आप मुनासिब समझें सो दे दें। साहूकार ने पचास रुपये निकालकर पण्डित जी के हाथ पर रखे और कहा कि पण्डित जी इन रुपयों में मेरा ठेका हो गया, घटी-बढ़ी का मैं मालिक।

पण्डित जी ने विचारा पचास रु० ले लेना ठीक नहीं है। परन्तु अङ्गीकार न करने से शायद और चढ़ोत्तरी हो जाए, ऐसा विचार कर उदासीन पण्डित जी बोले—सेठजी! तीन महीने सिर खपाई के केवल पचास रुपये देते हो, हम सन्तोषी ब्राह्मण अपना कर्तव्यपालन करते हैं। मैं कहाँ तक कम करूँ, आप ठेका लेना चाहते हैं तो सोच-समझकर रकम दें।

सेठजी बोले—आठ-दस आदमी तो कथा सुनने आते हैं, पांच-सात रुपये से अधिक क्या मिलेगा? मुझे तो आप पर दया आ रही थी इसलिये मैं पचास रुपये देने को तैयार हुआ। जब पण्डितजी पचास रुपये में राजी नहीं हुए तो सेठजी ने सौ रुपये देकर ठेका ले लिया। दूसरे दिन अपने ठेके की रकम वसूल करने के लिये सेठजी मन्दिर में आ बैठे। पूजन आदि सामान्य रीति से हुआ। उसके पश्चात् चढ़ोत्तरी हुई। किसी ने चार आने, किसी ने आठ आने चढ़ाये, इस तरह शाम तक सवा पाँच रुपये इकट्ठे हुए। तब क्रोध में आकर सेठजी शिव-पार्वती के पास यह कहते हुए चले कि मैंने तो ग्यारह सौ रुपये के लालच में सौ रुपये का ठेका लिया था। ९५) रुपये घर से गए और सुबह से भोजन न मिलने के कारण भूखा भी रहना पड़ा। सबसे बड़े देवता महादेव जी भी झूठ बोलते हैं, उनके वचनों के कारण ही मैं ९५) रुपयों से लुट गया। इस प्रकार क्रोध में भुनभुनाता हुआ वह साहूकार जहाँ महादेव-पार्वती की वार्ता सुनी थी, वहाँ आ पहुँचा और गुस्से में आकर शिवलिंग में लातें मारने लगा। जब तीसरी बार लात मारी तभी उसका पैर शिवलिंग से चिपक गया। उसने अपना पैर छुड़ाने की बहुत कोशिश की परन्तु वह और ज्यादा चिपक गया और वह उठ-उठकर गिर पड़ता था। उसके शरीर से चोट लगने के कारण लहू भी टपकने लगा और उसे रोते-चिल्लाते एक घण्टा बीत गया। तब अपने पिता को ढूंढता हुआ उसका लड़का वहाँ आ पहुँचा और उसने देखा कि मेरा पिता मन्दिर में हाथ जोड़कर महादेव जी से प्रार्थना कर रहा है। हे देवों के देव! मेरा अपराध क्षमा करो। मुझसे भारी भूल हुई है। हानि होने के कारण मेरी बुद्धि ही खराब हो गई थी। मैं अज्ञानी और आपका ही बालक हूँ। अब मेरा अपराध क्षमा करो। जब साहूकार ने गिड़गिड़ाकर इस प्रकार प्रार्थना की तब मन्दिर में से आवाज आई—हे साहूकार! तूने पण्डित जी को ठेके में केवल सौ रुपये दिये हैं, जबकि बात ग्यारह सौ रुपये की ठहरी थी। तुम अपने लड़के से कहो कि वह एक हजार रुपये पण्डित जी को देकर

उनसे ग्यारह सौ रुपये की रसीद लेकर यहीं आ जाए तभी तुम्हारी छुट्टी होगी।

साहूकार के पास ८५ हजार रुपये थे, प्राणों के आगे कौन बड़ी बात थी। उसने तुरन्त अपने पुत्र को आज्ञा दी—धनीराम! घर जाकर तुम एक हजार रुपये लेकर तुरन्त आओ और पण्डित जी को देकर रसीद लिखवाकर शीघ्रातिशीघ्र मन्दिर में आ जाओ जिससे महादेवजी जान जायें कि पण्डितजी की कथा की चढ़ोतरी पूरी हुई। अपने पिता की आज्ञानुसार धनीराम ने अतिशीघ्र पण्डित जी को एक हजार रुपये देकर ग्यारह सौ रुपये की रसीद लिखा ली और रसीद शिवमूर्ति पर रख दी गई तब साहूकार छूटकर अपने घर पहुँचा। पण्डित जी कर्म-धर्म वाले थे, उनके शुभ संस्कार बढ़ते गए और पक्व होकर पुण्य-फल देने को प्रवृत्त हुए। साहूकार का पाप अदृष्ट लोभ के कारण बढ़ता गया और लोभ पाप का मूल है ही। क्रमशः लोभ पाप का मूल गहरा होकर वृक्ष रूप धारण करता चला गया। तभी दुःख लहू-लुहान रूपी फल उसे मिला। ग्यारह सौ रुपये भी गए सो, अलग हुआ, यही पाप का प्रत्यक्ष फल है। पण्डितजी सन्तोषपूर्वक अपने कर्म में उद्यत रहे। उनको आशुतोष भगवान ने कर्म का उचित फल दिया। उनको सन्तोष से परम सुख की प्राप्ति हुई। अतः सन्तोषात् परम सुखम्।

सन्मार्ग पर चलने वाला भटकता नहीं

महाभारत वनपर्व में एक प्रसङ्ग है यक्ष–युधिष्ठिर–संवाद का, जिसमें बहुत ही अच्छे प्रश्नोत्तर किये गये हैं। यक्ष के प्रश्नों के जो उत्तर युधिष्ठिर ने दिये थे, वे आज भी प्रासङ्गिक और उपयोगी सिद्ध होते रहते हैं। यक्ष ने पूछा—

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब॥

अर्थात् सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? मार्ग क्या है? और वार्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर देकर जल पियो।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—हे यक्ष! जो मनुष्य किसी का ऋणी नहीं है, जो परदेश में नहीं है, वह चाहे अपने घर में रूखा-सूखा ही क्यों न खाता हो, वही सुखी है। प्रतिदिन प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते हैं, यानी मरते हैं, फिर भी जो जीवित हैं, वे सदा जीवित रहने की इच्छा करते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य की और क्या बात होगी? और जिस मार्ग पर महापुरुष चले हों वही चलने योग्य सन्मार्ग है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः', क्योंकि सन्मार्ग अथवा सही रास्ते पर चलने वाला भटकता नहीं, अपितु अपनी मञ्जिल पर पहुंच जाता है और ज्ञान-चर्चा करना ही वार्ता है। ★

मन-इन्द्रियों को वश में करके परमात्मा को प्राप्त करें

श्री जयदयाल गोयन्दका

कठोपनिषद् में शरीर को रथ, इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम, बुद्धि को सारथि, इन्द्रियों के विषय को रथ को चलने का मार्ग और जीवात्मा को रथी बतलाया गया है। परमात्मा के अंश जीवात्मा को इसी रथ के द्वारा विषयों के मार्ग पर चलकर ही परमात्मा के परम धाम पहुँचना है। रथ को घोड़े ही चलाते हैं, परन्तु घोड़े उच्छृङ्खल होकर उलटे मार्ग पर भी जा सकते हैं और वश में रहकर सीधे परमात्मा के मार्ग पर भी चल सकते हैं। जिस रथ का सारथि विवेकयुक्त, अप्रमत्त, स्वामी का आज्ञाकारी, लक्ष्य पर स्थिर, बलवान्, रास्ते का जानकार और घोड़ों की लगाम के सहारे से अपने वश में रखकर—इच्छानुसार सन्मार्ग पर चला सकता है, वह रथ अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिस पुरुष की बुद्धि विवेकसम्पन्न, जीवात्मा को परमात्मा के धाम में ले जाने के लिये तत्पर परमात्मा में लगी हुई, मन-इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाली सदा सावधानी के साथ सबको साधन-मार्ग पर ले चलनेवाली होती है, वह पुरुष इन्द्रियों के द्वारा विषयों में विचरता हुआ भी—जैसे सत्-सारथि के द्वारा संचालित रथ मार्ग पर चलकर लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है, वैसे ही—परमात्मा की ओर बढ़ता रहता है। इन्द्रियाँ तथा मन यदि साधक के अपने वश में हों और साधक उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयों में ही लगाये रखे तो इस प्रकार उन इन्द्रियों का विषयों में विचरण करना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत लाभदायक है, क्योंकि ऐसा करके वह परमात्मा के समीप पहुँच जाता है। जब तक शरीर, इन्द्रियाँ और मन हैं, तब तक उनको विषयों से सर्वथा अलग कर देना सम्भव नहीं है। अतएव साधक उनमें से राग-द्वेष को हटाकर विशुद्ध बना ले और फिर उनका यथायोग्य साधन रूप विषयों में उपयोग करे। भगवान् ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु
विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा
प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां
हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

(गीता २/६४-६५)

अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वश में की हुई राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों के द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर परमात्मा में ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।

यह है वश में किये हुए रागद्वेष रहित मन-इन्द्रियों के सद्विषयों में विचरण करने का परिणाम ! जिन मन-इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रिय-सुख की आशा से विषयों का उपभोग करके दुःखों को निमन्त्रण दिया जाता है, उन्हीं मन-इन्द्रियों से उन्हें साधन में लगाकर परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है, परन्तु जिसकी बुद्धि असावधान है, निर्बल है, इन्द्रियों तथा मन के अधीन है, प्रमत्त है, लक्ष्यशून्य है और परमात्मा को भूली हुई है, उसको ये ही इन्द्रियाँ विपरीत मार्ग में अग्रसर होकर वैसे ही सर्वथा पतन के गर्त में गिरा देती है, अथवा किसी भयानक दुष्कर्म-रूप पत्थर से भिड़ाकर मानव-जीवन को चूर-चूर कर डालती है, जैसे असावधान और निर्बल सारथि के द्वारा लगाम को प्रचण्ड बलवाले घोड़ों के अधीन छोड़ देने पर घोड़े उस रथ को सारथि और रथी सहित गहरे गड्ढे में डाल देते हैं, अथवा किसी दीवाल से टकराकर चकनाचूर कर डालते हैं।

विचार करने पर यह पता चलता है कि इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही बहिर्मुखी है। वे नित्य-निरन्तर विषयभोग के लोभ में पड़ी हुई विषयों की ओर दौड़ती और मन-बुद्धि को भी बलपूर्वक खींचती रहती है। अतः उनको सदा-सर्वदा सावधानी से मन के सहारे से यानी मन को उनके साथ न जाने देकर वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिये। इन्द्रियाँ वश में न होंगी और मन उनका साथ देने लगेगा तो वे बुद्धि को वैसे ही विचलित कर देंगी जैसे जल में पड़ी हुई नौका को वायु डगमगा देती है। भगवान् ने गीता में यही कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां
यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां
वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(गीता २/६७)

'क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। इस पर भगवान् कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो
निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य
प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २/६८)

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।'

जिस प्रकार चतुर और सुयोग्य केवट नाव को भँवर से तथा प्रबल जलधारा में बहने से बचाकर, खास करके पाल के सहारे से वायु को अनुकूल बनाकर गलावालों से खींच लेता हुआ मार्ग पर अग्रसर होता रहता है तो नाव सुरक्षित अपने स्थान पर पहुँच जाती है, उसी प्रकार भ्रम-प्रमादादि से रहित सुयोग्य एकनिष्ठ साधक बुद्धि-मन-इन्द्रियों से युक्त शरीररूप को राग-द्वेष रूपी भँवर तथा कामनारूपी तीव्रधार जल के प्रवाह से बचाकर सत्संगरूपी पाल के सहारे से भगवत्कृपा रूप वायु को अनुकूल बनाकर आगे बढ़ाता रहता है तो वह सुरक्षित भगवान् के परम धाम में पहुँच जाता है। (शेष पृष्ठ २२ पर)

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि

❀ डा० जे० पी० अवस्थी
४४, गीता इन्क्लेव, दयालबाग (आगरा)

मानसिक और भौतिक जगत की तात्विक एकता विश्व के महान चिन्तकों यथा शंकराचार्य, काण्ट, हेगेल, ब्रेडले आदि द्वारा स्थापित की जा चुकी है। मानव के इन्द्रिय-प्रत्यक्षीकरण को परिभाषित करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि "इन्द्रिय-प्रत्यक्षण वस्तु और वृत्ति के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध का नाम है। वस्तु विशेषत्व प्राप्त की हुई परम चेतना है जो वर्तमान में अस्तित्व में है और इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य है और वृत्ति भी परम चेतना का विशेष रूप है जिसने वस्तु का रूप ग्रहण किया है।" हेगेल का कथन है कि मानव-मनस और जगत दोनों ही परमात्मक ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ हैं और यह निरपेक्ष ईश्वर अपने से कुछ भिन्न जगत या ससीम मानव-मनस के माध्यम से अपना आत्म-साक्षात्कार करता या स्व-चेतन होता है। हेगेल के अनुसार प्रकृति बाह्यकृत मनस है और मनस अन्तःकृत प्रकृति है। लेकिन ये सभी विचारक यह स्वीकार करते है कि मनस और जगत का स्वरूप व्यवहार में प्रकाश और अन्धकार के समान विरोधी है। जगत भौतिक सत्ता है और अपने ज्ञान के लिये मानव-मनस पर जो प्रकाश के समान है, आधारित है।

लेकिन बर्कले नामक पाश्चात्य दार्शनिक ने यह प्रतिपादित किया कि जागतिक वस्तुओं का स्वरूप सार रूप में मानसिक है और जगत की सत्ता हमारे मनस द्वारा उसे जानने के कारण ही सिद्ध है। अगर मनस न होता तो जगत की सत्ता का कोई प्रमाण न था। दृष्टि ही सृष्टि है। किसी वस्तु का होना उसके प्रत्यक्षित होने में ही है। बर्कले के इस कथन को कि 'होना प्रत्यक्ष में होना है' का तर्क संगत विरोध हुआ क्योंकि जब मानव-मनस न था तब भी विकासक्रम के अनुसार जगत की सत्ता थी। हाँ यह बात

(पृष्ठ २१ का शेष)

अतएव साधक को चाहिये कि वह अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का स्वामी मानकर उनके वश में न हो, बल्कि इन्द्रियों को उनके पतनकारक तथा अनावश्यक मन-माने विषयों में जाने से रोककर, उनमें रहे हुए राग-द्वेष से उन्हें छुड़ाकर मन को वश में करे और बुद्धि को एक परमात्मनिष्ठ निश्चयात्मिका बनाकर परमात्मा में स्थिर कर दे। यथार्थतः ऐसा हो जाने पर तो मन-इन्द्रियों के द्वारा होने वाले सभी कार्य सहज ही भगवत्कार्य बन ही जाते हैं। परन्तु इसके पहले साधनकाल में भी इस आदर्श के अनुसार साधन करने से चित्त की प्रसन्नता, निर्मलता प्राप्त हो जाती है और उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति का मार्ग सुलभ और प्रशस्त हो जाता है। अतः साधक का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार साधन करके मानव-जीवन के परम लक्ष्य, परम शान्ति और परमानन्द-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करे। ★

सत्य है कि जगत स्वयं नहीं वरन जगत का ज्ञान मानव-मनस पर आधारित है। लेकिन उसके इस कथन में दम है कि अगर हम अपने मनस द्वारा वस्तुओं को नहीं वरन वस्तुओं के आभासों (विचारों या संवेदनाओं) को ही जानते हैं तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि जड़ वस्तु को जो मनस से स्वरूप में भिन्न और उसके विरोधी स्वरूप की है जाना जा सके ? अगर जड़ वस्तु और मनस तात्विक रूप से समरूप या एकरूप नहीं है तो मानवी ज्ञान जो भेद पर अवलम्बित है और जो भेद आभास मात्र है किन्तु तह में (मनस और जड़ जगत के बीच) तादात्म्य है तो ज्ञान असम्भव होता। "समान ही समान को जान सकता है।" भारतीय दर्शन का तन्मात्रा सिद्धान्त भी इस विचार से सहमत है। दत्त महोदय लिखते हैं कि "यह विचार कि इन्द्रिय उसी गुण से निर्मित होती है जिस गुण का वह प्रत्यक्षण करती है, इसकी ओर संकेत करती है कि हमारे भौतिक शरीर के अङ्गों और बाह्य जगत में समरूपता है।" प्रकाश तरंगें हमारी दृश्येन्द्रिय को इसलिये प्रभावित कर सकती है क्योंकि यह इन्द्रिय स्वयं प्रकाश से निर्मित है। इस प्रकार हमारी शरीरेन्द्रियों अर्थात् ज्ञान की वाहिकाओं और बाह्य जगत में अटूट सातत्य है और यही बाह्य जगत हमारे ज्ञान की वस्तु है।

ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध को लेकर प्रकृतिवादी अमेरिकी दार्शनिक जॉन डेवी को यही कहना पड़ा कि क्रमिक सत्ताओं का नाम जड़ जगत है और इनके अर्थों का नाम मनस है। "प्रदत्त और उसका विचार दोनों अभाधारित विभाजन व सहयोगात्मक उपकरण हैं और मनोवैज्ञानिकों को विश्लेषण के प्रयोजन से अवश्य ही ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत को स्वीकार करके चलना चाहिये।" दूसरे शब्दों में ज्ञाता और ज्ञेय में मूलतः भेद नहीं है। विख्यात जर्मन दार्शनिक एमैनुएल काण्ट ने ससीम मनस और जड़ जगत के द्वैत को स्वीकारते हुए यह कहा है कि विचार के बिना संवेदना अन्धी है और संवेदना के बिना विचार खोखला है और स्पष्ट किया है कि यद्यपि समस्त मानवी ज्ञान अनुभव (वस्तु) से प्रारम्भ होता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुभव (वस्तु) ज्ञान का जनक है। काण्ट के मतानुसार प्रसर काल एवं कोटियों (मानसिक पदार्थों) के प्रागनुभविक सत्यों के सहित मानव-मनस इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त वस्तुगत जगत की संवेदनाओं को व्यवस्थित करता है। यदि चिन्तनशील ज्ञाता का लोप कर दिया जाय तो भौतिक जगत भी लुप्त हो जायगा क्योंकि यह ज्ञाता की इन्द्रियों में वस्तुगत जगत के आभासों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काण्ट का निष्कर्ष यह बना कि "मानव-बोध प्रकृति को नियमित करता है।" जगत मानव-मनस से अतीन्द्रिय समाकृतियों के माध्यम से किन्हीं बोधपूर्ण तरीकों से जुड़ा है और इन अतीन्द्रिय समाकृतियों के ऊपर संप्रत्यक्ष समन्वयीकरण की अनुभवातीत एकता है जो अपने को तादात्म्य भाव से फिर भी भेदमूलक ढंग से अभिव्यक्त करती है। फिर भी यह स्मरणीय तथ्य है कि हमारा बोध न तो आत्मा को न ब्रह्म (वस्तु स्वलक्षण) को ही जान सकता है। हम इन्हें

उसी रूप में जानते हैं जिस रूप में वे हमें प्रतीत होते हैं।

रमण महर्षि की मान्यता है कि समस्त जगत मनस के अन्तर्गत है क्योंकि यह जगत यह नहीं कहता है कि "मैं जगत हूँ।" साथ ही यह सुषुप्तावस्था में ओझल भी हो जाता है। मानवी ज्ञान की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए महर्षि रमण कहते हैं कि चेतना स्वयं आकाश (ईश्वर) है और जगत केवल ऊर्जा तरंगों के रूप में शरीर के अङ्गों से संप्रेषित सिगनल्स (सूचिकायें) हैं जो ज्ञाता तक मस्तिष्कीय तन्त्रों एवं स्नायु व्यवस्था के द्वारा पहुँचती हैं। यह व्यवस्था द्रष्टा चेतना स्वयं के ईश्वर में केन्द्रित है। वस्तुयें स्थूल प्रतीत होती हैं क्योंकि गुण (सत, रज और तम) इन्द्रियों को सक्रिय होने के लिये आन्दोलित करते हैं और ज्ञाता को सहस्रार में वस्तुओं को ठोस और तरल आकार और रंग, स्वाद और ध्वनि आदि के रूप में समझने के लिये बाध्य करते हैं। परन्तु ये सभी मनस के सहज गुण ही हैं। श्री रमण के अनुसार जगत मनस का जो अति सूक्ष्म है स्थूल रूप ही है और दोनों (मनस एवम् जगत) एक ही द्रव्य के निर्मित हैं और दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है।

Sound and form,
smell touch and taste,
These make up the World.
Upon these senses lit the light,
In mind's domain the sensesmove,
Hence the world is but the mind.

(Sat Darshan Bhasya, p. 61)

यहाँ यह स्मरणीय है कि वास्तव में समस्त सत्ता एक अविभाज्य पूर्णता है और द्वैत केवल समझने और समझाने की विधि है। विचार और जगत के बीच कोई द्वैत नहीं है क्योंकि इन दोनों का उदय और अस्त एक साथ होता है। न केवल ब्रह्माण्डीय मनस (ईश्वर) एक है वरन इन्द्रियाँ, जीवन और बुद्धि प्रत्येक एक एक ही है। ईश्वर व्यष्टि के रूप में समस्त व्यष्टियों का योग ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार से मानव-शरीर है जो एक व्यष्टि होते हुए अनेक कोशिकाओं का संघटन है और जिसकी प्रत्येक कोशिका स्वयं में एक व्यष्टि है। यह ब्रह्माण्डीय या सृजनात्मक मनस जिसके हमारे सभी मनस प्रतिबिम्ब हैं, प्रसर और काल की सभी गतियों एवम् नमूनों का सर्जक है। इस विचार को जॉन डेविडसन अपनी पुस्तक "विकास का एक पूर्ण नया सिद्धान्त" (A Complete New theory of Evolution) प्रतिपादित करते हुए आगे कहते हैं कि "हमारा मनस संस्थान, हमारा व्यक्तित्व, हमारा भौतिक शरीर, इसका स्वास्थ्य और इसकी बीमारी, घटनायें और सम्बन्ध जिनमें हमारे दिन और रातें खपती रहती हैं—सभी मनस के असंख्य पक्षों द्वारा बुने जाते हैं। हम इस महान मनस को सृजनात्मक मनस कह सकते हैं।"

(पृ० १६२)

इस संक्षिप्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में उसके आन्तरिक और बाह्य जगत का प्रकटन व्यष्टिकृत मनस पर आधारित होता है और प्रत्येक मनस अनेकों प्रकार से भिन्नता रखता है। प्रत्येक मनुष्य का संसार उसके मानसिक दृष्टिकोण के अनुसार होता है। मनुष्य विश्वास करने वाला प्राणी है और वह उसी को प्रत्यक्ष कर लेता है जिसे प्रत्यक्ष करने का उसमें विश्वास होता है। मनुष्य वही बन जाता है जिसका विश्वास उसे अटूट आस्था के साथ होता है।

विश्वास करना एक शक्ति है जिसके द्वारा कोई भी उसके होने को स्वीकार कर सकता है जो वस्तुतः नहीं है। इसीलिये यह कहा गया है कि "देवे, तीर्थे, द्विजे, मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरो, यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" विश्वास अत्यन्त फलदायी होता है। आस्था अचल पर्वत को भी चलायमान कर सकती है। अमेरिकी दार्शनिक विलियम जेम्स ठीक ही कहते हैं कि विश्वास तर्क बुद्धि का पूर्वगामी होता है। विश्वास के कारण ही हम आवश्यकता पड़ने पर दौड़ने लगते हैं। अष्टावक्र गीता मानव की एकता और सही ढंग से विश्वास करने एवम् सुखी होने पर बल देती है—"विश्वासामृत पीत्वा सुखी भव।" (अष्टावक्र गीता का आठवाँ सूत्र) अष्टावक्र जीवन के अत्यन्त मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य यह सोचता और अनुभव करता है कि वह मुक्त है तो निश्चय ही वह मुक्त है। और यदि कोई मनुष्य यह सोचता और अनुभव करता है कि वह बन्धन में है तो वह निश्चय ही बद्ध है—"मुक्ताभिमानी मुक्तोहि बद्धोबद्धाभिमान्यपि किम् वदन्तीह सत्येयम या मतिः स गतिर्भवेत।" आशय यह है कि मनुष्य के बोध के अनुसार ही उसकी दशा बनती है।

मानव की कामनायें ही उसकी सृष्टि निर्मित करती हैं और प्रत्येक मनुष्य अपने द्वारा निर्मित विश्व में ही रहता है। मानव की उत्कट इच्छा सर्वोच्च रूप से सृजनात्मक होती है। यही उसके मनोकल्पित जगत का कारण भी बनती है। साथ ही कोई मनुष्य एक ही प्रकार के विश्व में सदैव रहता भी नहीं है। जब मनुष्य पूर्ण शान्त हो जाता है अर्थात् केवल तटस्थ द्रष्टा होता है तो उसका अपना विश्व ओझल हो जाता है। जब मनोकल्पित दृश्य समाप्त हो तो केवल पर्दा रह जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपने सुख और दुःख के विश्व का ताना-बाना बुनता है साथ ही अपने त्याग और भोग की सृष्टि निर्मित करता है। मानव स्वयं अपने सुख, दुःख, दर्द, घृणा, आसक्ति आदि का प्रक्षेपण कर उन्हें दूसरी वस्तुओं पर आरोपित कर देता है। वियोगिनी युवती को चन्द्रमा दुःख और पीड़ा से युक्त दिखायी देता है। परन्तु अपने प्रियतम की भुज-पाशों में समायी युवती को वही चन्द्रमा परम सुख और आनन्द से पूर्ण दिखायी देता है तथा यह उस युवती के उन्माद को और शक्तिशाली बना देता है। निश्चय ही सृष्टि वैसी ही है जैसी दृष्टि है।

भगवद्‌गीता के चतुर्थ अध्याय का ११वाँ श्लोक मानसिक दृष्टिकोण के रहस्य को बहुत शक्तिशाली ढंग से उद्घाटित करता है। इसके अनुसार "मनुष्य जिस जिस प्रकार से मेरी (ईश्वर की) ओर बढ़ते हैं उसी-उसी प्रकार से मैं उन्हें पुरस्कृत करता हूँ। हे पार्थ! सभी मनुष्य सभी मार्गों द्वारा मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। (ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥) चूँकि ईश्वर और जगत अप्रथक है और ईश्वर सर्वव्यापी है अतः वह परिधि रहित ऐसा वृत्त है जिसका केन्द्र सर्वत्र है। ब्रह्माण्डीय ईश्वर सर्वत्र निहित है अतः वह प्रकृति के प्रत्येक

बिन्दु पर है। आशय यह है कि ईश्वर और इसलिए सृष्टि भी एक प्रतिध्वनि है। ईश्वर सर्वत्र और सभी इकाइयों के माध्यम से प्रतिध्वनि करने में संलग्न है। वह हमें चारों ओर से घेरे हुए है। प्रत्येक अणु प्रतिध्वनिमय है। वह परमेश्वर हमारे संकल्प, भाव, और कर्म के प्रति समान अनुक्रिया करता है। वह शीशे की भाँति प्रत्येक भाव और क्रिया को प्रतिबिम्बित करके लौटा देता है उसी रूप में और अपने में कुछ नहीं रखता है। वह हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन को भी प्रतिबिम्बित करता रहता है। कुरान शरीफ के ईश्वर की भी वाणी यही है—"जो मुझ तक आने के लिये एक बीता बढ़ता है मैं उसकी ओर एक हाथ बढ़ता हूँ और जो मेरी ओर एक हाथ बढ़ता है मैं उसकी ओर एक गज बढ़ता हूँ और जो मेरी ओर तेजी से चलता है मैं उसकी ओर दौड़ता हूँ। ऋग्वेद का भी कथन है कि जिस रूप में उस (ईश्वर) की ओर बढ़ा जाता है उसी रूप में वह (ईश्वर) बन जाता है—"यद्‌ गेव इच्छते तद्‌यदुच्च्येत।"

इसी प्रकार तथाकथित जड़ जगत (जो असंख्य मुद्राओं में स्वयं सच्चिदानन्द ही है) भी हमें वह सब लौटा देता है जो उसे हम देते हैं। समस्त प्रकृति और मानव समाज भी प्रतिध्वन्यात्मक है। सुख-दुःख, द्वेष, घृणा, प्यार, सहानुभूति, हिंसा आदि और भौतिक वस्तुयें—जो कुछ भी हम इन्हें देते हैं, वे उन सभी वस्तुओं को हमें उसी रूप में लौटा देते हैं। जीवन (ईश्वर) जो जगत है कंजूसी नहीं जानता है। वह पूर्ण रूप से गणितीय है। इसमें कहीं भी त्रुटि नहीं है। अगर मनुष्य इस जगत को जड़ मानता है तो उसे सर्वत्र जड़ता ही दिखायी पड़ती है। अगर मनुष्य किसी प्रकार के दुःख में है तो उसे सर्वत्र वैसा ही दुःख दिखाई पड़ता है। अगर जगत को ईश्वर के रूप में देखा जाता है तो ईश्वर ही सर्वत्र दिखायी पड़ता है। अगर मनुष्य ईश्वर की याद नहीं करना चाहता है तो उसके पास विस्मृति ही घनीभूत होकर आती है। अगर हम एक जीवन (ईश्वर) को सर्वत्र देखते हैं और सभी कर्म ऐसा मानकर करते हैं मानो सर्वत्र एक ही जीवन है तभी सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। समस्त सत्ता पूर्ण रूप से हम जो कुछ हैं तदनुसार ही अनुक्रिया करती है। हम वही पाते और देखते हैं जिसके लिये हमारी उत्कृष्ट इच्छा होती है। ईसा मसीह ने ठीक कहा था कि 'माँगो और तुम्हें दिया जायेगा।' कारण यह है कि अन्तिम विश्लेषण में "विचार ही वस्तुयें हैं" और संसार वैसा ही है जैसी हमारी दृष्टि है और यह बात रहस्य के साथ-साथ तथ्य भी है। रहस्य इसलिये है कि कोई मनुष्य आज तक यह न समझ सका कि सर्वशक्तिवान सृजनकर्ता ने किस प्रकार अपने अद्वैत तत्व को बनाये रखते हुए द्वैतवादी संसार की रचना की। यह तथ्य इसलिये है क्योंकि इतिहास में मानव अनुभूतियों ने इसकी पुष्टि की। क्या सभी दार्शनिक एवम् धार्मिक पद्धतियाँ यह सिद्ध नहीं करतीं कि वे सभी विभिन्न बौद्धिक दृष्टिकोणों एवं महान स्वप्न द्रष्टाओं एवं विचारकों के मनःकल्पित सृष्टियों के परिणाम हैं? मानव के

लिये परम सत्ता सदैव 'मानो वह ऐसा है' के रूप में ही रहा और वह 'मानो' भी सत्य है, यद्यपि वह पूर्ण सत्य नहीं है। भेद स्वाभाविक तो है परन्तु वास्तविक नहीं है। यह निश्चयात्मकता से कहा जा सकता है कि समस्त मानवी ज्ञान—दर्शन, धर्म, कला, विज्ञान आदि विकल्पात्मक विश्वासों की व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये कुछ महान शक्तिशाली आत्माओं के अतिरिक्त जो परम शक्ति से एकाकार हुए कोई मनुष्य मानसिक दृष्टिकोणों की भूमिका को नकार नहीं सकता है। असंख्य जीवात्माओं के लिये आत्म-साक्षात्कार प्राप्त महान आत्माओं को भी सर्वप्रथम इसीलिये सत्य का उद्घाटन करना अनिवार्य है कि जैसा मन होता है वैसी ही दुनियां होती है—जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। इसलिये मानव को देवत्व प्राप्त करने हेतु अति भव्य, उदात्त एवम् शिव दृष्टि का निर्माण करना अत्यन्त श्रेयस्कर है।

-: जिव जबतें हरि बिलगान्यो :-

जिव जबतें हरितें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो।
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमतें दारुन दुःख पायो॥
पायो जो दारुन दुसह दुःख, सुख-लेस सपनेहुं नहिं मिल्यो।
भव-सूल, सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो॥
बहु जोनि जनम, जरा, बिपत्ति, मतिमंद! हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़! बिचारु लखि पायो कहीं॥

अर्थात्

हे जीव! जब से तू भगवान् से अलग हुआ, तभी से तूने शरीर को अपना घर मान लिया। माया के वश होकर तूने अपने 'सच्चिदानन्द' स्वरूप को भुला दिया, और इसी भ्रम के कारण तुझे दारुण दुःख भोगने पड़े। तुझे बड़े ही कठिन (जन्म-मरणरूपी) असहनीय दुःख मिले। सुख का तो स्वप्न में भी लेश नहीं रहा। जिस मार्ग में अनेक संसारी कष्ट और शोक भरे पड़े हैं, तू उसी पर हठपूर्वक बार-बार चलता रहा। अनेक योनियों में भटका, बूढ़ा हुआ, विपत्तियां सहीं, (मर गया)। पर अरे मूर्ख! तूने इतने पर भी श्री हरि को नहीं पहचाना! अरे मूढ़! विचार कर देख, श्रीराम जी को छोड़कर (किसी ने) क्या कहीं शान्ति प्राप्त की है।

(विनय पत्रिका से)

कर्मफल की व्यवस्था सृष्टि की स्थिरता का सुनिश्चित आधार

(पृष्ठ १६ का शेष)

है, मैं तब-तब दुष्टों का विनाश करने तथा पृथ्वी पर धर्म की स्थापना हेतु अवतार लेता हूँ।" यहाँ एक संशय उत्पन्न होता है कि भगवान द्वारा समय-समय पर पृथ्वी पर धर्म की स्थापना होते रहने पर भी अन्त में प्रलय द्वारा सृष्टि का विनाश क्यूं ? अर्थात् धर्म-रक्षण में ईश्वर के सहयोगोपरान्त भी अधर्म, जिसका विनाश अन्त में प्रलय से ही होता है, अपनी पराकाष्ठा को कैसे प्राप्त हो जाता है ? कुछ लोग प्रायः धर्म-प्रचारकों के समक्ष इस प्रकार के भ्रमोत्पादक तर्कों को प्रस्तुत कर, उन्हें अपने लक्ष्य से विचलित करने के प्रयास में, अपनी बाल-बुद्धि का परिचय देते हैं।

समय गुजरता जाता है, प्रभाव के मन्द किन्तु लगातार आक्रमणों से संसार की प्रत्येक वस्तु का ह्रास होता रहता है। समय जितना अधिक व्यतीत होता है, वस्तुयें उतनी ही अधिक दुर्बलता को प्राप्त होती है। उनमें पहले जैसी नवीनता लाने अथवा उपयोगी बनाने के उद्देश्य से उनकी मरम्मत कर ली जाती है। लेकिन कब तक ? एक न एक दिन तो उन्हें उस अवस्था में पहुंचना ही है जहाँ मरम्मत की भी गुन्जाइश नहीं रहती और अन्ततः उन्हें अपनी उपयोगिता तथा अस्तित्व से हाथ धोना ही पड़ता है। बुढ़ापे की जर्जर शारीरिक अवस्था में पहुंचकर मानव-स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए घी, दूध, फलादि कितने उपयोगी सिद्ध होते हैं ? हम मरम्मत के आधार पर वस्तुओं की आयु में वृद्धि तो कर सकते हैं लेकिन समय के वेग पर नियन्त्रण कर, प्रत्येक वस्तु पर पड़ने वाले इसके दुष्प्रभावों में कमी तो नहीं कर सकते। परिवर्तनशीलता का गुण इसके स्वभाव में निहित है। रूप-परिवर्तन करता हुआ समय अन्त में काल का ग्रास बनाता ही है। धर्म की स्थापना हेतु ईश्वर द्वारा पृथ्वी पर बार-बार अवतरित होने के बावजूद भी अज्ञानता के सागर में आकण्ठ डूबा मनुष्य अधर्म से जुड़ा ही रहता है। सांसारिक सुख भोगों में उसका आकर्षण बना ही रहता है। सांसारिक उपलब्धियों की अप्राप्य अवस्था में, अज्ञानता के वशीभूत होकर, अधर्म के सहारे सांसारिक सुख भोगों की पूर्ति करने में वह तनिक संकोच नहीं करता। धीरे-धीरे पनपता हुआ अधर्म अन्त में इतना पुष्ट और व्यापक हो जाता है कि समग्र संसार कालान्तर में अति अपवित्रता के घेरे में आ जाता है। ईश्वर को ऐसी अवस्था में अवतार लेने की आवश्यकता नहीं रहती है और वह प्रलयोपरान्त नई सृष्टि की रचना करते है।

एक नया प्रश्न उठता है—सृष्टि विनाशक अधर्म में वृद्धि होने का आखिर मूल कारण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि धर्म के प्रतिकूल कार्य ही अधर्म में वृद्धि करने के प्रमुख कारण हैं। धर्म अर्थात् एक अनुशासन, एक नियम, एक सीमा, एक क्षमता है जो सभी धर्म के ही पर्याय हैं। अनुशासन एक ऐसा नियम है जिसके विरुद्ध चलने पर किसी न किसी प्रकार की क्षति ही प्राप्त होती है। हम व्यवहारिक जीवन में देखते है कि निर्धारित वजन से अधिक वजन वहन करने पर मोटर-इंजन क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। विद्युत बल्वों पर प्रायः ४० W, ६० W, १०० W अंकित रहता है जो विद्युत बल्वों के कार्य करने की क्षमता को इंगित करते हैं। इसके विरुद्ध अधिक शक्ति की विद्युत ग्रहण

करने पर तुरन्त ही उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। मानव-जीवन का आनन्दमय निर्वाह उसके अनुशासन में निहित है। यदि मनुष्य अपनी आय से अधिक व्यय करेगा तो निःसन्देह वह अपनी वास्तविक खुशियों से हाथ धोकर जीवन को कष्टकर बना लेगा, उसमें मिठास के स्थान पर कड़वाहट घोलेगा।

परमेश्वर ने बड़े प्रेम से मनुष्यों के कल्याण हेतु सुन्दर संसार की रचना की है। इसके साथ ही उसने मनुष्य को अनुशासन में अर्थात् धर्म के बल पर जीवन निर्वाह करने का आदेश भी किया। लेकिन मनुष्य ने ईश्वर की अवज्ञा की। वह पथभ्रष्ट हुआ और उसने अधर्म का अनुसरण किया। तुच्छ नश्वर सफलताओं के लिए उसने, झूठ, छल, कपट आदि दुर्गुणों को अपनाकर हृदय को विकार-युक्त बना लिया। अनुशासनहीनता सर्वत्र कष्टकर सिद्ध होती है। मनुष्य ने अधर्म को अपनाकर अपने ही दुष्कर्मों के परिणाम-स्वरूप परमेश्वर की आनन्दमयी सृष्टि को अपने लिये दुःखमय बना लिया। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु, मनुष्य, देवी-देवता आदि सभी ईश्वर द्वारा प्रदत्त एक निश्चित दायरे में अथवा अधिकार क्षेत्र में स्थित हैं। अहङ्कार के वशीभूत होकर जो भी अपने क्षेत्र की सीमा का उल्लंघन करता है वह अन्ततो-गत्वा भारी हानि अर्थात् असहनीय दुःख उठाता है। अधर्म के मार्ग पर व्यक्ति आ कैसे जाता है इस पर बहुत कम लोग ही विचार करते हैं। इस कार्य में मनुष्यों में विद्यमान 'क्लेश' की भूमिका प्रधान होती है। विवेकीजन जिसे अधर्मी अथवा पापी, दुष्ट आत्मा कहते हैं, वह स्वयं को ऐसा नहीं समझते क्योंकि क्लेशों के प्रभाव में आकर उनकी बुद्धि इतनी विपरीत हो जाती है कि उन्हें अपने निर्णय उचित महसूस होते हैं। वह अपने कार्यों को धर्म से सम्बन्धित समझते हैं क्योंकि उनकी कुबुद्धि उन्हें ऐसा ही ज्ञान पैदा करती है। ऐसे लोग अपनी कार्य पद्धति को उचित प्रमाणित करने के लिए अपनी ही बुद्धि से लिए गये तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। उनके तर्कपूर्ण निर्णयों से कोई सहमत हो अथवा न हो, लेकिन वे स्वयं तो सन्तुष्ट हो ही जाते हैं। ऐसे ही लोगों के सम्बन्ध में पूज्यपाद सन्त श्री आसाराम बापू जी एक सुन्दर उदाहरण देते हुए कहते हैं—"दो अफीमची अफीम के नशे में एक चौराहे पर खड़े थे। पहले अफीमची ने दूसरे अफीमची से कहा—यार, लोगों को देखकर मुझे बड़ी हैरानी होती है। ये चारों तरफ क्यों जा रहे हैं? सारे मिलकर एक ही रास्ते पर क्यों नहीं जाते? दूसरे अफीमची ने तत्काल ही अपनी बुद्धि से उत्तर दिया—अरे यार तू बड़ा मन्द बुद्धि है, इतनी सी बात भी नहीं सम-झता। यदि ये सारे एक ओर ही जायेंगे तो पृथ्वी एक तरफ झुक नहीं जायेगी। उसका सन्तुलन बिगड़ जायेगा।" क्लेशों से प्रभावित लोगों की बुद्धि भी इसी प्रकार की हो जाया करती है। तो आइए इन क्लेशों के प्रभावों को विस्तार से समझ लिया जाय।

पृथ्वी पर अधर्म की व्यवस्था में, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश इन चार प्रकार के क्लेशों की बीज भूमि 'अविद्या' सर्वाधिक सहयोगी है। आध्यात्म क्षेत्र में प्रचलित 'विद्या' तथा 'अविद्या' का अर्थ संसार के शिक्षित लोगों की विद्या तथा अशिक्षित लोगों की अविद्या से नहीं है। विद्या का अर्थ सद्गुणों से प्राप्त विवेक-ख्याति से है। जो धर्मपरायण हैं, कर्तव्य-

परायण हैं तथा शुद्ध अन्तःकरण वाले होकर ईश्वर से प्रबल प्रेम करते हैं, ऐसे लोग विवेक-ख्याति को प्राप्त किया करते हैं अर्थात् उनमें विद्या विद्यमान रहती है। महात्मा कबीर अशिक्षित होते हुए भी विद्या के गुण के कारण महाज्ञानी कहलाए। अविद्या एक क्लेश है। जो बाहर-भीतर से अशुद्ध, विकार-युक्त अन्तःकरण वाले हैं, जिनके कार्य सदैव ईश्वर को अप्रसन्न करने वाले हैं ऐसे लोगों में 'अविद्या' विद्यमान रहती है। उच्चस्तर की शिक्षाओं को ग्रहण करने वाले अनेक विद्वान, अविद्या के वशीभूत होने के कारण, महाअज्ञानी ही कहलाते हैं।

क्लेशों का मूल कारण अविद्या है। जो मनुष्य क्लेश युक्त हैं, उनका मोक्ष निश्चित हो जाता है अर्थात् वह मनुष्य आवागमन के कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। क्लेशों की निवृत्ति हो जाने पर जड़ तथा चेतन की गाँठ खुल जाती है। जीव को प्रकृति तथा पुरुष का विवेक ज्ञान हो जाता है। उसे इस सत्यता का बोध हो जाता है कि 'जड़ अथवा प्रकृति' तथा 'पुरुष अथवा चेतन' दोनों अलग-अलग हैं। क्लेशों से छुटकारा मिलने के बाद बुद्धि का उसके गुणों में अव-स्थान हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। क्लेशों के वशीभूत व्यक्तियों में क्लेशों के संयोग बने रहने के कारण, क्लेशों की जननी अविद्या, जड़ तथा चेतन में गाँठ लगा देती है। अर्थात् उन्हें आपस में सम्बन्धित कर देती है, फल-स्वरूप मनुष्य जड़ को ही चेतन समझ लेता है अर्थात् देह में आत्मा के तथा आत्मा में देह के दर्शन करता है। संक्षेप में आशय यह है कि वह देह तथा आत्मा के सम्बन्ध में कोई भेद उत्पन्न नहीं करता, बल्कि दोनों को एक ही समझता है। इस प्रकार अविद्या से उत्पन्न अहीं वह अज्ञानता है जिसके अन्तर्गत मनुष्य में 'मैं' अथवा 'कर्तापन' का भाव आ जाता है। फिर उसमें 'मैं क्या हूँ?' अर्थात् आत्मा को पहचानने की जिज्ञासा शेष नहीं रह जाती है। उसे देहाभिमान हो जाता है।

भगवान् पतंजलिदेव के अनुसार अविद्या नामक क्लेश का रूप इस प्रकार है—

अनित्या शुचि दुःखनात्मसु नित्य
शुचि सुखात्म ख्यातिर विद्या।

इसकी विस्तार से व्याख्या इस प्रकार है—जो व्यक्ति जितना अधिक अविद्या के वशीभूत होता है उतना ही अधिक वह जड़ में अर्थात् प्रकृति में विश्वास रखने वाला होता है। इन्द्रियाँ बाहर की ओर ही देखने वाली होती हैं अतः वह इन्द्रियों के विषयों के भोग-सुख में तल्लीन रहता है। बुद्धि को भ्रमित कर देना अविद्या का स्वभाव है। भ्रमित बुद्धि वाला व्यक्ति अन्धःवत् होकर यथार्थ देखने से वंचित रह जाता है। जो कुछ भी वह अपने साधारण नेत्रों से देख लेता है उसी को सत्य मान लेता है। इन्द्रियों को सुखानु-भूति कराने वाले विषयों में ही उसका आक-र्षण होता है। उन्हीं वस्तुओं को वह अपने परम सुख की सामग्री समझ लेता है। इन्द्रियों का वेग जितना तीव्र होता है, उनके विषयों को भोगने की जिज्ञासा भी मनुष्य में उतनी ही तीव्र गति से जागृत होती है। अविद्या क्लेशों के कारण इन्द्रियों के वशीभूत मनुष्य अनित्य को नित्य समझता है, अर्थात् जो नश्वर है उसे वह अमर समझता है। सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, तारों को वह अविद्यावश नित्य समझता है जबकि ये सभी नश्वर होने के कारण अनित्य हैं। इसी प्रकार आत्मा तथा परमात्मा नित्य हैं लेकिन वह आत्मा

को अनित्य अर्थात् नश्वर मानता है। यही कारण है अविद्यायुक्त व्यक्ति, जीवात्मा के पूर्वजन्मों तथा पुनर्जन्मों में विश्वास नहीं करता। वह ऐसा मानता है कि शरीर की मृत्यु के साथ ही आत्मा की भी मृत्यु हो जाती है। परमात्मा साधारण नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होता है, अतः संसार में ऐसे लोगों की बुद्धि के अनुसार ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं होता है। ये लोग कर्तापन के प्रबल भाव के कारण स्वयं को ही सब कुछ करने वाला समझते हैं। ईश्वर के सूक्ष्म हाथों से ही सृष्टि के समस्त कार्य सम्पन्न हो रहे हैं, ऐसी ज्ञानयुक्त चर्चाओं को ये लोग कोई महत्व नहीं देते और इसे मात्र अन्धविश्वास कहकर टाल जाते हैं। अपवित्रता में पवित्रता के दर्शन करना भी अविद्यावशात पुरुषों का ही एक लक्षण है। शास्त्रों में रस रहित, दुर्गन्ध युक्त, बासी एवं उच्छिष्ट भोजन मांस, मछली, अण्डा, मदिरा, प्याज, लहसुन, खटाई आदि स्वभाव से ही अपवित्र माने गये हैं। ये तमोगुण को बढ़ाने वाले तामस व्यक्तियों के भोजन हैं। अविद्या से प्रेरित व्यक्ति इनकी अपवित्रता पर तनिक भी ध्यान नहीं देते हैं। बल्कि पवित्र समझकर रात-दिन इन अपवित्र पदार्थों का सेवन करके, अपनी इन्द्रियों के वेग को शान्त करते हैं। किन्तु अप्रत्याशित रूप से, अग्नि में घी की तरह, विषय-भोग इन्द्रियों के वेग की तीव्रता में और अधिक वृद्धि करते हैं। पाप कर्मों द्वारा प्राप्त आय से क्रय करने पर, सात्विक पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। क्रेता के मन के संस्कार उन पदार्थों में विद्यमान हो जाते हैं। अतः उन पदार्थों को सेवन करने वाले के मन पर, उस व्यक्ति के संस्कारों का परोक्ष प्रभाव तुरन्त पड़ता है। लेकिन अविवेकी लोग उन पदार्थों को पवित्र जानकर प्रेम पूर्वक सेवन करके अपने हृदय को मलिन कर लेते हैं। अविद्या से प्रभावित होकर मनुष्य दुःखों में सुख का अनुभव करते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन वस्तुओं के भोग में उसे आनन्द की अनुभूति होती है, वे सब कालान्तर में उसके दुःख का ही कारण बनती हैं। विवेकी पुरुष, संसार की प्रत्येक मिथ्या सुख देने वाली वस्तु में केवल दुःख का ही अनुभव करते हैं। सन्त-महात्माओं की दृष्टि में सच्चा आनन्द देने वाली वस्तु केवल मात्र ईश्वर है। ईश्वर के अतिरिक्त समस्त वस्तुयें केवल दुःखमूलक ही हैं। इसीलिए भगवान ने गीता में, संसार की समस्त वस्तुओं का आसक्ति रहित होकर भोग करने की तथा आसक्ति रहित होकर कर्म करने की आज्ञा प्रदान की। आसक्ति नहीं होगी तो दुःख नहीं होगा। आसक्ति नहीं होगी तो कर्मबन्धन भी नहीं होंगे। कर्मबन्धन मुक्त होने पर पृथ्वी पर आवागमन नहीं होगा। मोक्ष का द्वार खुल जायगा। कितना सरल सा लगता है यह सब। किन्तु वास्तविकता यह है कि आसक्ति रहित होकर अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में वितृष्ण होने पर मोक्ष प्राप्ति जितनी सहज है, सांसारिक सुखों हेतु आसक्ति रहित होकर कर्म करना अथवा कर्मफल की इच्छा किये बिना कर्म करना उतना आसान नहीं है। आसक्ति रहित कर्म करने से इन्द्रियां अपने विषयों से विगत राग हो जाती हैं। ये सब केवल मनुष्य से सम्भव नहीं

है। इन कार्यों की सफलता में ईश्वरीय सहयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक है। कारण हमारी मन भूमि में हमारे पिछले करोड़ों जन्मों के शुभाशुभ संस्कार दबे पड़े हैं, जिसे कर्माशय कहते हैं। शुभाशुभ संस्कार, शुभाकर्मों से निर्मित होते हैं। जो संस्कार अंकुरित होकर शुभाशुभ फल लेकर प्रकट होते हैं, उन्हें संस्कारों का भुगतान समझा जाता है। अज्ञानतावश प्रत्येक जन्म में हमने आसक्ति युक्त होकर अपने समस्त कार्य किये होंगे। इसीलिए कर्मबन्धनों के आधार पर हम अभी तक जन्म लेते चले आ रहे हैं। न मालूम अभी कितने जन्मों के शुभाशुभ संस्कार शेष हैं जिनके भुगतान के लिए पता नहीं अभी कितने जन्म और लेने पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त हर नये जन्म में मनुष्य क्लेशों के वशीभूत होकर और नये-नये कर्म कर लेता है फलस्वरूप कर्मबन्धन और अधिक जटिलता से आत्मा को बांध लेते हैं। जो नये जन्मों की संख्या में निरन्तर वृद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार जन्म-मरण की आदिकाल से चली आ रही सतत् शृङ्खला कहीं टूटने का नाम नहीं लेती है। हमें तो यह भी ज्ञात नहीं रहता है कि हमारे वर्तमान जन्म में किस जन्म के किन कर्मों से निर्मित संस्कारों का भुगतान हो रहा है। भीष्म पितामह बाणों की शय्या पर पड़े भारी कष्ट भोग रहे थे। तीक्ष्ण बाणों से मिलने वाली असहनीय पीड़ा से अत्यन्त व्याकुल होकर उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना की—हे मधुसूदन ! मुझे अपने सौ जन्मों का स्मरण है। इन जन्मों में मैंने कोई पाप नहीं किया है। फिर मुझे इतना भारी कष्ट क्यों भोगना पड़ा है ? मेरी ये दुर्दशा किन कारणों से हुई है ? त्रिजगतपावन श्रीकृष्ण भगवान ने तुरन्त अपनी योगमाया से भीष्म पितामह को एक सौ एकवां जन्म देखने की शक्ति प्रदान कर दी जिसमें वे अपने द्वारा किये गये उन दुष्कर्मों को देख सके जिनके भुगतान स्वरूप उन्हें इतना भारी कष्ट उठाना पड़ा। उक्त उदाहरण से कर्मों की क्रियाशीलता की अनिवार्यता का स्पष्ट बोध हो जाता है। संसार के समस्त प्राणियों को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। चाहे वह शुभ कर्म हो अथवा अशुभ कर्म हो। नीचे दिया गया श्लोक इस सत्य को प्रमाणित करता है।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प
कोटि शतैरपि।
अवश्यं एव भोक्तव्यं
कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

अर्थात्—बिना भोग के सौ करोड़ कल्प तक भी कर्म का नाश नहीं होता। शुभाशुभ कर्मों के फल अवश्य भोगने पड़ते हैं। हमारे असंख्य पूर्वजन्मों के जटिल कर्मबन्धनों से निर्मित अगणित शुभाशुभ संस्कारों को अति सरलता से भुगतान कराने का तथा सांसारिक विषय भोगों के प्रति अकर्तापन भाव से आसक्ति रहित होकर कर्म कराने का सामर्थ्य केवल सद्गुरु में ही होता है जो स्वयं ईश्वर होते हैं। अतः अपने परम कल्याण के लिए सद्गुरु शरण में पहुँचना अति आवश्यक है। मानव जीवन में सद्गुरु की उपयोगिता को अवश्य समझ लेना चाहिए। हमारी अपवित्रता से उत्पन्न हुए क्लेश हमें दुष्कर्मों में लगाकर हमारी कितनी भयंकर

दुर्गति करते हैं। घोर नरक की ओर ले जाने वाले ऐसे दुःखदायक क्लेशों से निवृत्ति केवल गुरुदेव ही करा सकते हैं। इस प्रकार हमारे करोड़ों जन्मों से चली आ रही कर्मबन्धनों की शृङ्खला को केवल गुरुदेव ही तोड़ना जानते हैं।

जिस दिन से हम गुरु-शरण में आए उसी दिन से गुरुदेव ने हमारा परम कल्याण करने का कार्य अपने हाथों में ले लिया, लेकिन हम लोग इसे समझ नहीं सके। हम लोग तो गुरुदेव से बस यही अपेक्षा रखते थे कि गुरुदेव हमारे सांसारिक मनोरथों को पूरा करते रहें। शायद हम समझते थे कि गुरु सिर्फ इसीलिये बनाये जाते हैं। गुरुदेव ने हमें अपने पावन आलिंगन पाश में लेने के लिए सदैव अपने हाथ हमारे समक्ष फैलाये रखे लेकिन हम उनके समीप जाने में डरते रहे। वे तो हमारे आत्मिक कल्याण के लिए हमें बार-बार अपने समीप बुलाते थे, लेकिन हम सांसारिक तथा पारिवारिक चिन्ताओं का बहाना करके सदैव उनसे दूर भागते रहे। गुरुदेव ने, महान पुरुषार्थों से संचित, अपनी आन्तरिक योग सम्पदा को लुटाने के लिए सदैव अपने हाथों को मुक्त रखा लेकिन हम अपने हाथ उठाकर उनसे कुछ भी लेने की हिम्मत नहीं जुटा पाये। वे देने के लिए सदैव तत्पर थे लेकिन हम ग्रहण करने में महा आलसी निकले। फिर भी गुरुदेव ने अपने बालकों को बहुत कुछ दिया है। जिसका प्रभाव सभी को थोड़ी-सी साधना करने पर ही, अपने-अपने अन्तःकरण में दिखने लगा है। भविष्य में गुरुदेव की योगमाया की स्पष्ट झाँकीदिखने को मिलेगी। अन्त में सिद्धयोग के समस्त पाठकों को 'जय गुरुदेव'।

कुसङ्ग

★ मनुष्य के उत्थान और पतन के जितने कारण हैं, उनमें सङ्ग एक प्रधान कारण है। सङ्ग के अनुसार ही मनुष्य का मन बनता है और मन के अनुसार ही मनुष्य से क्रिया होती है एवं क्रिया के अनुसार ही उसका फल मिलता है। अच्छे हृदय का मनुष्य भी नीच सङ्ग से नीच मन वाला होकर गिर जाता है और असदाचारी मनुष्य भी उत्तम सङ्ग पाकर असदाचार से छूटकर महात्मा बन जाता है। परन्तु इतना याद रखना चाहिए कि बुरे सङ्ग का प्रभाव साधारण मनुष्य पर जितना शीघ्र और विशेष रूप से पड़ता है, उतना शीघ्र और उतनी मात्रा में उत्तम सङ्ग का प्रभाव नहीं पड़ता। कारण यह है कि मनुष्य की प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, अतएव जैसे जल स्वभाव से ही नीचे की ओर बहता है, उसी प्रकार प्रकृति के गुणों में स्थित पुरुष भी स्वभावतः पतन की ओर ही जाता है। अतः कुसङ्ग का सर्वथा परित्याग कर दीर्घकालपर्यन्त सत्सङ्ग का सेवन करना चाहिये।

—हनुमान प्रसाद पोद्दार

उपासनीय भगवत्तत्व

श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार

शास्त्रों और महात्माओं के अनुभवों से यह सिद्ध है कि साकार और निराकार दोनों प्रकार के उपासकों को परमगति प्राप्त हो सकती है। साकार के उपासक को सगुण भगवान् के दर्शन भी हो सकते हैं, हाँ, निराकार के उपासक को उसकी इच्छा न रहने के कारण दर्शन नहीं होते। ईश्वर का प्रभाव समझकर साकार ईश्वर की उपासना की जाने से सफलता शीघ्र मिलती है। साकार ईश्वर के प्रभाव को ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् समझे। जिस शिव या विष्णु रूप की वह उपासना करे। उसके लिये उसे यह समझना चाहिए कि मेरा इष्टदेव ईश्वर केवल इस मूर्ति में ही है और कहीं नहीं है। ईश्वर में इस तरह की परमिति बुद्धि एक प्रकार से तामस ज्ञान है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिए अथवा कोई भाई सरल भाव से तत्व न समझकर केवल मूर्तिमात्र में ईश्वर समझकर ही उसकी उपासना न करे। किसी भी भाँति उपासना में प्रवृत्त होना तो सर्वथा उपासना न करने की अपेक्षा उत्तम ही है, परन्तु इस ज्ञान के अल्प होने के कारण इससे की हुई उपासना का फल बहुत देर से होता है। अल्पज्ञान की उपासना में यदि हानि है तो केवल यही है कि इसकी सफलता में विलम्ब हो जाता है; क्योंकि इसमें उपासक उपास्य वस्तु का महत्व कम कर देता है।

कोई अग्नि का उपासक यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित करके यदि यह मान ले कि बस, यही इतनी ही दूर में अग्नि है और कहीं नहीं है तो इससे वह अग्नि का महत्व कम करता है, वह एक व्यापक वस्तु को छोटी-सी सीमा में बाँध देता है। वस्तुतः अग्नि सर्वत्र व्यापक है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण सब जगह दीखती नहीं, प्रकट होने पर ही दीखती है और चेष्टा करते ही वह प्रकट हो सकती है। यदि अभाव होता तो वह किसी भी जगह किसी भी वस्तु में प्रकट कैसे होती? जैसे प्रज्वलित अग्नि हवनकुण्ड में दीखती है, परन्तु है सर्वत्र, इसी प्रकार भगवान् भी निराकार रूप से सर्वत्र समभाव से व्याप्त हैं और भक्त के प्रेम से साकार रूप से प्रत्यक्ष होते हैं। निराकार ही साकार है और साकार ही निराकार है—इस प्रकार समझना ही साकार का प्रभाव और तत्व समझना है। असल में ईश्वर के साथ अग्नि की तुलना नहीं की जा सकती। यह तो एक दृष्टान्तमात्र है; क्योंकि अग्नि परमात्मा की भाँति सर्वव्यापी नहीं है। एक स्थान में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँचों वस्तुएँ सर्वव्यापी नहीं हो सकतीं। सर्वव्यापी परमात्मा तो कारण का भी महाकारण है, इसलिये वह सबमें स्थित है। कार्य कभी सर्वव्यापी नहीं होता, कारण व्यापक होता है। जगत् का कारण प्रकृति है, परन्तु परमात्मा तो उसका भी कारण होने से महाकारण है। प्रकृति जड़ होने से अपने जड़ कार्य का कारण हो सकती है, परन्तु वह चेतन्य परमात्मा का कारण नहीं हो सकती। अतएव परमात्मा ही सबका महाकारण है और यही

जड़-चेतन सब में सदा पूर्ण रूप से स्थित है। सब के नष्ट होने पर भी उसका नाश नहीं होता, वह नित्य है, अनादि है।

निराकार ब्रह्म का स्वरूप सत्, विज्ञान, अनन्त, आनन्दघन है। 'सत्' उसे कहते हैं, जिसका कभी अभाव या परिवर्तन न हो, जिसमें कभी कोई विकार न हो और जो सदा एकरस एकरूप रहे। 'विज्ञान' से बोध, चेतन, शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। 'अनन्त' उसे कहते हैं, जिसकी कोई सीमा न हो, कोई माप तोल न हो, जिसका कहीं आदि-अन्त न हो, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान्-से-महान् हो, समस्त संसार जिसके एक अंश में स्थित हो। 'आनन्दघन' से केवल आनन्द-ही-आनन्द समझना चाहिए; 'घन' का अर्थ यह है कि उसमें आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु को किसी प्रकार भी अवकाश नहीं है। जैसे बर्फ में जल घन है, इसी प्रकार परमात्मा आनन्दघन है। बर्फ तो साकार, जड़, कठोर है परन्तु परमात्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, निराकार है। इस प्रकार का परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। यही सच्चिदानन्दघन का स्वरूप है।

परमात्मा की आनन्दरूपता का वर्णन नहीं हो सकता, वह अनिर्वचनीय है। यदि आपको किसी समय किसी कारण से महान् आनन्द की प्राप्ति हुई हो तो उसे स्मरण कीजिये। उससे बड़ा आनन्द वह है जो सच्चे मन से किये हुए सत्सङ्ग, भजन या ध्यान द्वारा उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन गीता के १८वें अध्याय के ३६, ३७वें श्लोकों में है। इस सुख के सामने भोगसुख सूर्य के सामने खद्योत के सदृश भी नहीं है। परन्तु यह सुख भी उस परम आनन्द रूप ब्रह्म का एक अणुमात्र ही है; क्योंकि ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त अन्य आनन्द-घन नहीं है, वे एक सीमा में हैं, उनमें दूसरों के लिए अवकाश है।

उसी आनन्दरूप परमात्मा का सब विस्तार है। उस परमात्मा में संसार वैसे ही समाया हुआ है, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब वास्तव में है नहीं, पर समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। दर्पण तो जड़ और कठोर है, परन्तु वह परमात्मा परम सुखरूप होने पर भी चेतन है तथा वह इस प्रकार घनरूप से व्याप्त है कि उसकी किसी से तुलना ही नहीं की जा सकती। उसकी घनता किसी पत्थर, शिला, बर्फ आदि जैसी नहीं है, इनमें तो अन्य पदार्थों के लिये गुञ्जाइश रहती है। परन्तु उसमें किसी के लिए कुछ भी गुञ्जाइश नहीं है—जैसे इस शरीर में 'मैं' (आत्मा) इतना सूक्ष्म घन है कि उसके अन्दर दूसरे को कभी स्थान नहीं मिल सकता; शरीर, मन, बुद्धि आदि में किसी दूसरे का प्रवेश हो सकता है, परन्तु उस आत्मा में किसी का प्रवेश किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, इसी प्रकार वह सर्व-व्यापी निराकार परमात्मा भी घन है।

उसकी चेतना भी विलक्षण है। इस शरीर में जितनी वस्तुएँ हैं वे सब जड़ हैं, इनको जानने वाला चेतन है। जो पदार्थ किसी के द्वारा जाना जाता है वह जड़ होता है, दृश्य है, वह आत्मा को नहीं जान सकता। हाथ-पैर आत्मा को नहीं जानते, पर आत्मा उनको जानता है। वही सबको जानता है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है, वह ज्ञान ही परमेश्वर है जो सब जगह है। ऐसी कोई जगह नहीं है, जो उससे रहित हो; इसीसे श्रुति उसे 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहती है।

वही ब्रह्म भक्तों के प्रेमवश उनके उद्धारार्थ साकार रूप से प्रकट होकर उन्हें दर्शन देता है। उसके साकार रूपों का वर्णन मनुष्य की बुद्धि के बाहर है; क्योंकि वे अनन्त हैं। भक्त जिस रूप से भगवान् को देखना चाहता है, वे उसी रूप में प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देते हैं। भगवान् का साकार रूप धारण करना भगवान् के अधीन नहीं, पर प्रेमी भक्तों के अधीन है। अर्जुन ने पहले विश्वरूप दर्शन की इच्छा प्रकट की और फिर चतुर्भुज की। भक्तभावन भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को थोड़ी ही देर में तीन रूपों में दर्शन दे दिये और उसे निराकार का भाव भी भलीभांति समझा दिया। इसी प्रकार जो भक्त परमात्मा के जिस रूप स्वरूप की उपासना करता है उसको उसी रूप के दर्शन हो सकते हैं।

अतएव उपासना के स्वरूप-परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं। भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी, गणेश इत्यादि किसी भी रूप की उपासना की जाय, वह सब उसी परमात्मा की हो जाती है। भजन में कुछ भी बदलने की जरूरत नहीं है। बदलने की जरूरत है, यदि परमात्मा में अल्पबुद्धि हो तो उसको। भक्त को चाहिये कि वह अपने इष्ट-देव की उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्मा की उपासना करता हूँ वे परमेश्वर निराकार रूप से चराचर में व्यापक हैं, सर्वज्ञ हैं, सब कुछ उन्हीं की दृष्टि में हो रहा है। वे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन मेरे इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीला से भक्तों के उद्धार के लिये उनकी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण कर अनेक लीलाएँ करते हैं। इस प्रकार तत्त्व से जानने वाले पुरुष के लिये परमात्मा कभी अदृश्य नहीं होते और न वह कभी परमात्मा से अदृश्य होता है। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६/३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह एकीभाव से मुझमें ही स्थित है।'

निराकार-साकार में कोई अन्तर नहीं है, जो भगवान् निराकार हैं वे ही साकार बनते हैं। भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ (गीता ४/६)

'मैं अजन्मा और अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।'

क्यों प्रकट होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी भगवान् स्वयं ही देते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ (गीता ४/७-८)

'हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार-रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पापकर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

इस प्रकार अविनाशी, निर्विकार परमात्मा जगत् के उद्धार के लिये भक्तों के प्रेमवश अपनी इच्छा से स्वयं अवतीर्ण होते हैं। वे प्रेममय हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया प्रेम और दया से ओत-प्रोत है। वे जिनका संहार करते हैं, उनका भी उद्धार ही करते हैं। उनका संहार भी परम प्रेम का ही उपहार है; परन्तु अज्ञ जगत् उनके दिव्य जन्म-कर्मों की लीला का यथार्थ रहस्य न समझकर नाना प्रकार का सन्देह करता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ (गीता ४/९)

'हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व से जान लेता है, वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतों के परम गति और परम आश्रय हैं। वे केवल धर्म की स्थापना और संसार का उद्धार करने के लिए ही अपनी योगमाया से सगुण रूप होकर प्रकट होते हैं। अतएव उन परमेश्वर के समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेम से निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित होकर संसार में बर्तता है, वही वास्तव में उनको तत्त्व से जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुष को इस दुःखरूप संसार में फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

भगवान् के जन्म-कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्व को जो समझ लेता है वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है। उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक इत्यादि शब्द दिव्य के पर्याय-वाची हैं। भगवान् के जन्मकर्मों में ये सभी घटित होते हैं। उनके कर्म संसार में विस्तृत होकर सबके हृदयों पर असर करते हैं। कर्मों की कीर्ति ब्रह्माण्डभर में छा जाती है। जो उनका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है, इसलिए वे उज्ज्वल हैं। उनकी लीला का जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकार का नाश होता है। जहाँ सदा हरिलीला-कथा होती है, वहाँ ज्ञानसूर्य का प्रकाश छा जाता है, पाप-ताप-रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसलिये वे प्रकाशमय हैं। उनके कर्मों में किसी प्रकार का स्वार्थ या अपना प्रयोजन नहीं है, कोई कामना नहीं है, किसी पाप का लेश नहीं है, ममतारहित हैं, इसलिये वे शुद्ध हैं। उनके जैसे कर्म जगत् में कोई नहीं कर सकता। ब्रह्मा, इन्द्रादि भी उनके कामों को देखकर मोहित हो जाते हैं। जगत् के लोगों की कल्पना में भी जो बात नहीं आ सकती, जो बिल्कुल असम्भव है, उसको भी वे सम्भव कर देते हैं, अघटन

(शेष पृष्ठ ६८ पर)

सवाई (आगरा) स्थित—

श्री सिद्धगुफा

श्री 'दिव्य'

'सिद्धगुफा' की उस धरती को, आओ करें प्रणाम ?
जिसके कण-कण में रमते हैं, योगेश्वर प्रभु राम ॥
आत्मलीन हो जाता है, मिट जाता है दुःख-दाह ।
जहाँ योग की गंगा का, बहता है सतत् प्रवाह ॥
शक्तिपात के स्रोत सिद्धियों के दाता अभिराम ।
जहाँ 'चन्द्रमोहन' से सद्गुरु का है पावन-धाम ॥
भस्मीभूत जहाँ हो जाते, विषय, वासना, काम ।
'सिद्धगुफा' की उस धरती को, आओ करें प्रणाम ॥

\+ \+ \+

जहाँ सहज ही मिल जाता है, 'सिद्धयोग' का ज्ञान ।
मिट जाता है जहाँ हृदय का, अन्धकार अज्ञान ॥
जल जाते अभिशाप जहाँ, पर फल जाते वरदान ।
बन जाते यम-नियम जहाँ, पर साधक के परिधान ॥
जहाँ ध्येय के लिए ध्यान का, होता है आयाम ।
प्राणशक्ति को जहाँ बढ़ाता, निशदिन प्राणायाम ॥
'सिद्धगुफा' की उस धरती को आओ करें प्रणाम ।
जिसके कण-कण में रमते हैं, योगेश्वर प्रभु राम ॥

(पृष्ठ ३७ का शेष)

घटना घटा देते हैं, जीवन्मुक्त या कारक सबकी अपेक्षा अद्भुत हैं, इसलिए वे अलौकिक हैं। उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीला से ही आप प्रकट होते हैं। वे प्रेमरूप होकर ही सगुण रूप में प्रकट होते हैं। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूर्ति है, इसलिये प्रेमी पुरुष ही उनको पहचान सकते हैं। इस तत्त्व को समझकर जो प्रेम से उनकी उपासना करते हैं, वे भाग्यवान् बहुत ही शीघ्र उन प्रेममय के प्रेमपूर्ण वदनारविन्द का दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। अतएव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सब उनके चारुचरणों में अर्पित कर दिन-रात उन्हीं के चिन्तन में लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ॥ (गीता १२/८)

'मुझ में मन को लगा और मुझ में ही बुद्धि को लगा, इसके अनन्तर तू मुझ में ही निवास करेगा अर्थात् मुझको ही प्राप्त हो जायगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। ★

धन्य कौन ?

[देवर्षि नारद के कौतुहल का रहस्य]

भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर में एक यज्ञ से निवृत्त होकर द्वारका लौट चुके थे। यदुकुल की लक्ष्मी उस समय इन्द्र के वैभव को भी मात कर रही थी। सागर के मध्य में स्थित श्री द्वारकापुरी की छटा अमरावती की सुषमा को तिरस्कृत कर रही थी। इन्द्र इससे मन ही मन लज्जित होकर अपनी राज्य-लक्ष्मी को तुच्छ समझने लग गये थे। भगवान् नन्दनन्दन की ऐसी अद्भुत राजश्री की बात सुनकर उसे देखने को बहुत-से राजा द्वारका पधारे। इनमें कौरव-पाण्डवों के साथ पाण्ड्य, चोल, कलिङ्ग, बाह्लीक, द्रविड़, एवम् खश आदि अनेक देशों के राजा-महाराजा भी सम्मिलित थे।

इन सभी राजा-महाराजाओं के साथ भगवान् श्रीकृष्ण सुधर्मा-सभा में स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हुए। अन्य राजा-महाराजा भी चित्र-विचित्र आसनों पर यथास्थान चारों ओर से उन्हें घेरे बैठे थे। उस समय वहाँ की शोभा बड़ी विलक्षण थी। ऐसा लगता था, मानो देवताओं तथा असुरों के बीच साक्षात् प्रजापति ब्रह्मा विराज रहे हों। इसी बीच मेघगर्जना के समान भीषण नाद हुआ और बड़े जोरों की हवा चली। ऐसा लगने लगा कि अब भारी वर्षा होगी और दुर्दिन-सा दीखने लग गया। पर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, जबकि इस तुमुल दुर्दिन का भेदन करके उसमें से साक्षात् देवर्षि नारद निकल पड़े। वे अग्निशिखा के समान ठीक नरेन्द्रों के बीच सीधे उतर पड़े। नारद जी के पृथ्वी पर उतरते ही वह दुर्दिन (वायु-मेघादि का आडम्बर) भी समाप्त हो गया। समुद्र-सदृश नृपमण्डली के बीच उतरकर देवर्षि ने सिंहासनासीन श्रीकृष्ण की ओर मुख करके कहा—'पुरुषोत्तम ! देवताओं के बीच आप ही परम आश्चर्य तथा धन्य हैं।' इसे सुनकर प्रभु ने भी कहा—'हाँ, मैं दक्षिणाओं के साथ अवश्य ही परम आश्चर्य और धन्य हूँ।' देवर्षि ने कहा—'प्रभो ! मेरी बात का उत्तर मिल गया अब मैं जाता हूँ।'

नारद जी को इस प्रकार चलने के लिए उद्यत देखकर राजाओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कुछ भी न समझ सके कि बात क्या है ? उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा—'प्रभो ! हम लोग इस दिव्य तत्त्व को कुछ जान न पाये, यदि गोप्य न हो, तो इसका रहस्य हमें समझाने की कृपा करें।' इस पर भगवान् ने कहा—'आप लोग धैर्य रखें, इसे स्वयं नारद जी ही सुना रहे हैं।' यों कहकर उन्होंने देवर्षि को इसे राजाओं के सामने स्पष्ट करने के लिए कहा।

नारद जी कहने लगे—राजाओ ! सुनिये, जिस प्रकार मैं इन श्रीकृष्ण के महात्म्य को जान सका हूँ, वह तुम लोगों को बतलाता हूँ। एक बार मैं सूर्योदय के समय गङ्गा तट पर घूम रहा था। इतने में ही वहाँ एक पर्वताकार कछुआ बाहर निकला। मैं उसे देखकर चकित रह गया। फिर मैंने उसे हाथ

से स्पर्श करते हुए कहा—'कूर्मराज ! तुम्हारा विशाल शरीर परम आश्चर्यमय है। वस्तुतः तुम धन्य हो। क्योंकि तुम निःशङ्क और निश्चिन्त होकर इस गङ्गा में सर्वत्र विचरते हो, भला, तुमसे अधिक धन्य और कौन होगा ?' मेरी बात अभी पूरी भी न हो पायी थी कि बिना सोचे ही वह कछुआ बोल उठा—'मुने ! भला मुझ में क्या आश्चर्य है ? और प्रभो ! मैं भला धन्य भी कैसे हो सकता है ? धन्य तो हैं, ये देवनदी गङ्गा जो मुझ जैसे हजारों कछुओं तथा मकर, नक्र, झषादि जीवों की आश्रयभूता शरणदायिनी हैं। मेरे जैसे असंख्य जीव इनमें भरे हैं—विचरते रहते हैं, भला इनसे अधिक आश्चर्यमय तथा धन्य कौन हो सकता है ?'

नारद जी ने कहा—राजाजी ! कछुआ की बात सुनकर मुझे बड़ा कुतूहल हुआ और मैं गङ्गादेवी के सामने जाकर बोला—'सरित्-श्रेष्ठे गङ्गे ! तुम धन्य हो, क्योंकि तुम तपस्वियों के आश्रमों की रक्षा करती हो, समुद्र में मिलती हो, विशालकाय जीव-जन्तुओं से सुशोभित हो और सभी आश्चर्यों से विभूषित हो।' इस पर गङ्गा तुरन्त बोल बोल उठीं—'नहीं, नहीं, देवर्षे ! मैं क्या आश्चर्यविभूषित या धन्या हूँ ? इस लोक में सर्वाश्चर्यमय परम धन्य तो समुद्र ही है, जिसमें मुझ जैसी सैकड़ों छोटी-बड़ी नदियाँ जाकर मिलती हैं।' इस पर मैंने जब समुद्र के पास जाकर उसकी इसी प्रकार प्रशंसा की, तो वह भी अपनी दैवी मूर्ति धारण कर लहरों के ऊपर आया और बोला—'मुने ! मैं कोई धन्य नहीं हूँ, धन्य तो है यह वसुन्धरा, जिसने मुझ जैसे कई समुद्रों को धारण कर रखा है और वस्तुतः सभी आश्चर्यों की निवासभूमि भी यह भूमि ही है।'

समुद्र के वचनों को सुनकर मैंने पृथ्वी से से कहा—'देहधारियों की योनि पृथ्वि ! तुम धन्य हो। शोभने ! तुम ही समस्त आश्चर्यों की निवास भूमि भी हो।' इस पर वसुन्धरा ने तत्काल प्रतिवाद किया और कहा—अरे ! ओ कलहप्रिय नारद ! मैं धन्य-वन्य कुछ नहीं हूँ, धन्य तो हैं ये पर्वत, जो मुझे भी धारण करने के कारण 'भूधर' कहे जाते हैं और सभी प्रकार के आश्चर्यों के निवास स्थल भी ये ही हैं।' मैं पृथ्वी के वचन सुनकर पर्वतों के पास उपस्थित हुआ और कहा कि 'वास्तव में आप लोग बड़े आश्चर्यमय दीख पड़ते हैं। सभी श्रेष्ठ रत्न तथा सुवर्ण आदि धातुओं के शाश्वत निधान भी आप ही हैं, अतएव आप लोग धन्य हैं।' किन्तु पर्वतों ने कहा—'ब्रह्मर्षे ! हम लोग धन्य नहीं हैं। धन्य हैं प्रजापति ब्रह्मा और सर्वाश्चर्यमय जगत् के निर्माता होने के कारण वे आश्चर्यभूत भी हैं।'

अब मैं ब्रह्माजी के पास पहुँचा और उनकी स्तुति करने लगा—'भगवन् ! एकमात्र आप ही धन्य हैं, आप ही आश्चर्यमय हैं। सभी देव, दानव आपकी ही उपासना करते हैं। आपसे ही सृष्टि उत्पन्न होती है, अतएव आपके तुल्य धन्य अन्य कौन हो सकता है ?' इस पर ब्रह्माजी बोले—'नारद ! इन धन्य, आश्चर्य आदि शब्दों से तुम मेरी स्तुति क्यों कर रहे हो ? धन्य और आश्चर्य तो ये वेद हैं, जिनसे यज्ञों का अनुष्ठान तथा विश्व का संरक्षण होता है।' अब मैं वेदों के पास जाकर उनकी प्रशंसा करने लगा तो उन्होंने यज्ञों को धन्य कहा। तब मैं यज्ञों की स्तुति करने लगा। इस पर यज्ञों ने मुझे बतलाया कि 'हम धन्य नहीं, विष्णु धन्य हैं, वे ही हमें

(शेष पृष्ठ ४१ पर)

मनःशुद्धि का साधन—ध्यान

❀ श्री सोहनलाल एन० डी०

मन की गुलामी ही असफलताओं, दुःखों एवम् रोगों का कारण है। मन के मालिक बने बिना हम न जीवन सफल कर सकते है न आनन्द एवम् प्यार, प्रेम के अधिकारी बन सकते है और न सत्य, तथ्य और आत्मा को पा सकते हैं, न हम राग, द्वेष एवम् अहङ्कार आदि से मुक्त होकर निर्मल बन सकते हैं।

सबसे पहले हर बात मन पर घटित होकर कार्य का रूप लेती है। यदि हमारा मन शुद्ध नहीं है, अति करता है, लालच में आता है, राग-द्वेष, क्रोध-अहङ्कार में डोलता है तो हमारा हर काम इन कषायों से प्रभावित होता रहेगा और हमारे पल्ले निराशा, द्वेष, दौर्मनस्य, रोग-शोक आदि पड़ते ही रहेंगे।

मन को निर्मल बनाने के लिए ध्यान एक विधि है; साधन है, विद्या है। आज हमको यह विद्या सीखने का अवसर उपलब्ध है, हमें अवसर की ताक में रहकर चूकना नहीं चाहिए। जागृत होकर अवसर का लाभ उठाना चाहिये। अवसरों को हड़पना पड़ता है अन्यथा गफलत में रहकर पछताना पड़ता है।

जिस प्रकार गलत रहन-सहन और गलत खानपान शरीर में विष-वृद्धि करता है उसी प्रकार गलत विचार भी शरीर में विष-वृद्धि करता है। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह और भय भी शरीर में विष-वृद्धि करते हैं। इनकी अधिकता शरीर में जितनी तीव्रता से विष-वृद्धि कर सकती है, उतनी गलत रहन-सहन से नहीं। भय उसी क्षण नाड़ियों को प्रभावित कर मनुष्य को सर्वथा अशक्त बना देता है, चिन्ता का दबाव हृदयाघात का कारण है, द्वेष के कारण हम जल्दी बूढ़े होते हैं, लोभ और मोह पाचन बिगाड़ते हैं।

सात्विक जीवन विचारों में भी सात्विकता लाता है, द्वेष, क्रोध दबते हैं परन्तु यदि मन को वश में करने की विधि अपनाई जाये तो सफलता स्थाई रूप से प्राप्त होती है और वह विधि है—ध्यान। जो मन का मालिक बन जाता है फिर वह हर काम, हर कदम पर विवेक रख, मन का सदुपयोग ही करेगा तो सफलताएँ उसके चरण चूमेंगी। ★

(पृष्ठ ४० का शेष)

लोगों की अन्तिम गति हैं। सभी यज्ञों के द्वारा वे ही आराध्य हैं।'

तदनन्तर मैं विष्णु की गति की खोज में यहाँ और आप सभी राजाओं के बीच में श्रीकृष्ण के रूप में उन्हें देखा। जब मैंने इन्हें धन्य कहा, तब इन्होंने अपने को दक्षिणाओं के साथ धन्य बतलाया। दक्षिणाओं के साथ भगवान् विष्णु ही समस्त यज्ञों की गति हैं। यहीं आकर मेरे प्रश्न का समाधान हुआ और इससे मेरा कुतूहल भी निवृत्त हो गया। अतएव अब मैं जा रहा हूँ।

यों कहकर देवर्षि नारद चले गये। इस रहस्यमय संवाद को सुनकर राजा लोग भी बड़े विस्मित हुए और सबने एकमात्र प्रभु को ही धन्य, आश्चर्यमय एवं सर्वोत्तम प्रशंसा का पात्र माना। ★

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. AUGUST 1996

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

— योग का चरम लक्ष्य —

मुमुक्षु को जन्म, जीवन, मृत्यु और विलोप के सब दृश्यों के मूल में निरपेक्ष और सनातन परमात्मा का मनन करना चाहिए। जिस प्रकार बच्चे को दिन और रात्रि के चक्र में जीवन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है, ठीक उसी प्रकार सृष्टि और संहार भी प्रत्यक्षता और अप्रत्यक्षता मात्र है। सृष्टि और संहार ब्रह्म का केवल जागना और सोना, दिन और रात्रि हैं। सच्चा ज्ञान प्राप्त करने पर मनुष्य जगत् की परम एकता की अनुभूति करता है। इसी परम एकता का ध्यान और अनुभूति योग का चरम लक्ष्य है।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन : 330426